प्रकाशक :
दलसुख मालवणिया,
मन्त्री, जैन-संस्कृति-संशोधन-मण्डल,
वाराणसी—५



पहली बार : १,०००
जून, १९५७
मूल्य : दो रुपये



मुद्रक :
निरञ्जनाथ भार्गव,
मनोहर प्रेस,
वाराणसी

दो शब्द

झाँक सकें, तो इस कविता में झाँकिए। लेकिन अगर आप अपने अन्दर झाँक सकते हैं और एक मिनट भी अन्दर झाँकते रह सकते हैं, तब इस किताब में झाँकने की जरूरत नहीं। क्योंकि इस किताब में इसी पर जोर दिया गया है।

अगर आप अपने को पहचानते हैं या पहचान गये हैं, तब भी इस किताब को पढ़ने की जरूरत नहीं। क्योंकि यह तो आपको पहचनवाने में कुछ ही अंशों में मददगार हो सकती है—आपको अपने को पहचनवा दे, इसका दावा नहीं करती।

[signature]

राजघाट, काशी

४-६-'५७

प्रकाशकीय वक्तव्य

'सन्मति-प्रकाशन' माला के १४वें पुष्प के रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। पूज्य महात्मा भगवानदीनजी इसके लेखक हैं। उन्होंने 'स्वाध्याय' नामक एक पुस्तक लिखी थी, जो 'जैन-जगत्' (मासिक) में क्रमशः प्रकाशित होती रही। वही पुस्तक अब 'जैन-संस्कृति-संशोधन-मण्डल' की ओर से प्रकाशित की जा रही है। महात्माजी के हम ऋणी हैं कि उन्होंने अपनी यह रचना प्रकाशित करने का हमें अवसर दिया।

महात्माजी ने जैन शास्त्रों का स्वतंत्र अध्ययन किया है और उन पर अपनी मौलिक और सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उनकी स्वतंत्र विचारधारा का दर्शन पाठकों को होगा। परम्परा के अनुसार यदि इस ग्रन्थ में जैन-धर्म और दर्शन की व्याख्या या विवेचना नहीं मिलती है, तो यह नहीं समझना चाहिए कि लेखक शास्त्रों से अपरिचित है। बल्कि यह समझना चाहिए कि शास्त्रों की भी नयी व्याख्या आज अत्यन्त आवश्यक हो गयी है। ज्ञान की कोई सीमा नहीं। अतएव पुरानी बातों का नवीनीकरण आवश्यक है।

ग्रन्थ का संपादन भाई श्री जमनालालजी जैन ने प्रेमभाव से किया और छपाई आदि का सारा प्रबन्ध भी उन्होंने ही किया। श्री गो० न० वैजापुरकर शास्त्रीजी ने भी इसकी छपाई में हाथ बँटाया। इसके लिए मण्डल दोनों का आभारी है।

आशा है, इस ग्रन्थ का दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में विशेष स्वागत होगा।

अहमदाबाद
३१-१-'५७

दलसुख मालवणिया
मंत्री

अनुक्रम

●

स्वाध्याय

पहला अध्याय

स्वाध्याय: क्या और क्यों ?

शब्द 'स्वाध्याय'

स्वाध्याय शब्द सीधा-सादा है। उसके समझने में किसीको कठिनाई नहीं होनी चाहिए। न जाने क्यों, स्वाध्याय के नाम पर ऐसा रिवाज चल पड़ा है, जिसका स्वाध्याय से कोई मेल नहीं। वह रिवाज है, पुस्तकालयों, मंदिरों या और इसी तरह की जगहो में जाकर किताबों या ग्रंथो को पढ़ना। किताब या ग्रंथ का स्वाध्याय किसी तरह 'स्व' यानी आपा नहीं हो सकता। वह हर तरह 'पर' यानी बेगाना ही रहेगा। हर किताब में उसीका अनुभव होता है, जिसकी वह लिखी होती है। सौ में से पंचानवे किताबें ऐसी होती हैं, जिनमें लिखनेवाले का अनुभव या तजुर्बा न रहकर सिर्फ उसकी कल्पना की उडान रहती है। बाकी बची पाँच किताबों में से चार ऐसी मिलेंगी, जो लिखनेवालों ने किसी पुस्तकालय में बैठकर पुस्तकों की मदद से लिखी होगी। उनमें उनके अपने अनुभव का कोई हिस्सा न मिलेगा। ऐसी पुस्तकों के अध्ययन को 'स्वाध्याय' समझ लेना या 'स्वाध्याय' नाम दे बैठना निरी भूल ही नहीं, अपने को धोखा देना है और उस फल-प्राप्ति की ओर से दूसरी तरफ चल देना है, जिसके लिए 'स्वाध्याय' शब्द के बनानेवाले ने 'स्वाध्याय' शब्द की रचना की थी। 'स्वाध्याय' के माने साफ हैं। 'स्व' याने अपना ध्याय—अध्ययन करना। अब स्वाध्याय का अर्थ हुआ, 'अपने को पढ़ना', 'अपने को जगाना' और 'अपनी जानकारी हासिल करना'। आज स्वाध्याय के नाम पर जो कुछ हो रहा है, वह सब 'पराध्याय' है। पराध्याय से स्वाध्याय नहीं

हो सकता । न हो सके न सही, नुक्सान होता है, तभी तो कबीरदास जैसे ऊँचे स्वाध्यायी के मुँह से ये शब्द निकल पड़े :

'पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंढित भया न कोय ।
ढाई अक्खर प्रेम के, पढ़े सो पंडित होय ॥'

'पंडित' का अर्थ

स्वाध्याय शब्द की तरह 'पंडित' शब्द के साथ भी बड़ा अन्याय हुआ है । पंडित शब्द पर कुछ कहने के पहले हमें संस्कृत की दो धातुएँ 'विद्' और 'ज्ञा' को समझ लेना है । देखने में ये दोनों धातुएँ एक अर्थवाली मालूम होती हैं, पर असल में इन दोनों के अर्थ में जमीन-आसमान का अन्तर है । सिखाया तो हमें यही जाता है कि विद् और ज्ञा, दोनों का अर्थ जानना है, पर वैसा है नहीं । विद् याने ऊपरी जानकारी और ज्ञा याने भीतरी जानकारी । विद् धातु से बने विद्वान् और ज्ञा धातु से बने ज्ञानी में बड़ा अन्तर होता है । हो सकता है, बड़े-से-बड़ा विद्वान् बिलकुल ज्ञानी न हो या बहुत कम ज्ञानी हो । हाँ, यह भी हो सकता है, बड़े-से-बड़े ज्ञानी को अक्षर-ज्ञान भी न हो, भाषा के ऊँचे ज्ञान का तो कहना ही क्या ? अब आजकल रिवाज में यह आ गया है कि जो अक्षर-ज्ञान हासिल करके ऊँचे दर्जे का भाषा-ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसे पंडित नाम दे दिया जाता है । इसका नतीजा यह हुआ है कि पंडित पदवी पर भरोसा न करके सरकार का हर विभाग ऊँचे दर्जे के आदमियों की जब छाँट करता है, तब वह अपनी परीक्षा अलग लेता है और उस परीक्षा के द्वारा इम्तिहान देनेवाले की विद्वत्ता की जाँच के साथ-साथ ज्ञान की जाँच करता है । क्योंकि दुनिया के काम के लिए ज्ञान सबमें जरूरी चीज है । इस ज्ञान के इम्तिहान में जो फेल हो जाता है, वह फिर कितना ही विद्वान् क्यों न हो, सरकारी इम्तिहान लेनेवालों की छाँट में नहीं आ सकता । इसके आधार पर क्या यह नहीं कहा जा सकता कि आजकल की युनिवर्सिटियाँ, जो अपने यहाँ से पंडित और महापंडित तैयार करके दुनिया के बाजार में भेजती है, वह सब ज्ञान से अगर बिलकुल खाली नहीं होते, तो बहुत-कुछ खाली होते हैं । यही

कारण है कि पंडित शब्द गलत जगह ले बैठा है, और इसी वास्ते कबीरदासजी को नाराजी होकर पोथी से चिढ़ हो गयी और वह पोथी-पढे को पडित न कहकर अपंडित समझने लगे। वह करते भी क्या! ऐसा कहे बगैर लोगों को ज्ञानी बनाने के लिए और चारा ही क्या था? वह अपनी आँखों से देख रहे थे कि सस्कृत के पडित और अरबी के जानकार मौलवी, दोनो आपस में लडते थे और ऐसे रिवाजों को अपनाये हुए थे, जो मामूली समझदार को भी शोभा नहीं देते। अकेले कबीरदासजी ने ही नहीं, उन दिनों और स्वाध्यायियों के मुँह से भी कबीरदास से मिलते-जुलते वचन निकले। जैसे—

किताबों में धरा है क्या, बहुत लिख-लिख के छोड़ाजी।
बहुत मस्जिद में सर मारा, बहुत-सा ढूँढ़ा बुतखाना॥

यहाँ कोई यह न समझे कि हम पुस्तकों और ग्रथों के खिलाफ हैं। न उनके खिलाफ कबीरदास थे और न और, क्योंकि हम खुद यह पुस्तक लिख रहे हैं। और कबीरदासजी खुद तथा उन जैसे दूसरे संत भी पुस्तक ही नहीं, पुस्तकों का भडार छोड गये हैं। यहाँ तो सिर्फ इतना कहना है कि पुस्तकें पढकर कोई अपने-आपको पंडित न समझ बैठे या कोई पुस्तकों के पढे-लिखे को पडित की पदवी न दे डाले। पडित की पदवी का तो सिर्फ अनुभवी ज्ञानी ही अधिकारी होता है।

अनुभवी ज्ञानी की पहचान

अनुभव इसके सिवा और क्या हो सकता है कि आदमी बाहरी परिस्थितियो और अपने बीच के संबंध को ठीक-ठीक पहचान ले। बालक आग के विषय में उसी वक्त तक पूरा अज्ञानी है, जब तक कि वह यह नहीं जानता कि आग का उसकी उँगली से क्या रिश्ता है। जिस दिन वह अपनी उँगलो आग में जला लेता है, उस दिन उसे नया अनुभव होता है, उस अनुभव के आधार पर वह अपने और आग के बीच में एक रिश्ता कायम करता है। इस रिश्ते के बूते वह किसी अश में पंडित बन जाता है। उसकी यह छोटी-सी पडिताई किसी पोथी से फलने-फूलने की मदद हासिल कर सकती है। जैसे, अगर वह बडा होकर पोथी से यह पता लगाये कि आग सिर्फ मेरी उँगली जलानेवाली चीज नहीं है और

को किसी भी वक्त अपने निजी अनुभव की भेट चढायी है। पर यह याद रहे कि ऐसी हालत में उसको वह सब चीज मिल चुकी होगी, जिनकी बात हमने इसी सिलसिले के दूसरे पैरे मे लिखी है, यानी चर्खा कातने के साथ-साथ उसका जीवन सादा बन गया होगा, उसमें ईमानदारी आ गयी होगी और वह जन-सेवा में लगे रहने में ही आनंद मानने लगा होगा।

हम ऊपर कह चुके हैं कि अनुभव हमारे और परिस्थितियो के बीच सच्चा रिश्ता कायम करता है। यह रिश्ता बढकर उस रिश्ते का ज्ञान करा देता है, जो हमारे और मनुष्य-समाज के बीच होना चाहिए। जहाँ आदमी-आदमी के बीच के रिश्ते का ज्ञान हुआ कि आदमी के अन्दर जन-सेवा की भावना जागी। और जैसे ही वह जन-सेवा में लगा कि उसे विश्वबन्धुत्व का पता लगा। विश्व-बन्धुत्व उसमें पूरी ईमानदारी लाये बगैर नही रहेगा। सादगी ईमानदारी की सहचरी होती है, वह उसमें अपने-आप आ जायगी। इन तीन गुणों से दुनिया उसे अपने-आप आसानी से पहचान लेगी और फिर अनुभवी ज्ञानी की पहचान किसीसे छिपी न रहेगी।

इस तरह का अनुभवी ज्ञान उस वक्त तक पूरा रंग नहीं ला सकता और दुनिया को पूरा-पूरा फायदा नहीं पहुँचा सकता, जब तक उस अनुभव और ज्ञान का अनुभवी और ज्ञाता मनोविज्ञान और मन के भावों का पूरा जानकार न हो।

पूरब का मनोविज्ञान - योग

मनोविज्ञान आजकल पश्चिम का विषय बना हुआ है। कुछ लोगों का ऐसा खयाल है कि यह पश्चिम की ही चीज है और नयी चीज है। पर बात ऐसी है नहीं। यह बहुत पुरानी विद्या है और इसने बहुत दिन हुए पूरब मे ही जनम लिया था। पूरब में उसकी बडी कद्र थी। आज उसको जो दर्जा पश्चिम में मिला हुआ है, वह इतना ऊँचा नहीं है, जितना उसे पूरब में प्राप्त था। आजकल तो मनोविज्ञान का अर्थ ही बदल गया है और यह विद्या असलियत से बहुत दूर जा पडी है।

मनोविज्ञान बहुत पुरानी विद्या है। यह दूसरी बात है कि इस विद्या का

पुराना रूप न लोगों के सामने है और न उसकी तकनीक (टेकनिक) अब किसीको याद रह गयी है ।

तकनीक की याद न रहने की वजह यह है कि पूरब में जिस मनोविज्ञान ने जन्म लिया था, उसका नाम मनोविज्ञान न था, उसका नाम था 'योग' । योग का पहला सूत्र था 'चित्त की वृत्तियों को रोकना' ।

पूरब का यह योग धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ बढा और अरब में जाकर सूफियों की तालीम के नाम से अपनाया गया । अब यह आजकल मनोविज्ञान जैसा कोरा मनोविज्ञान न रह गया, धर्म का अङ्ग बन गया और अध्यात्मवाद में गिना जाने लगा ।

एक दिन था, जब योगी जादूगर समझे जाते थे । जादूगर के नाते उनसे लोग डरते थे और उन्हें प्यार भी करते थे । यह ठीक है, और विद्याओं की तरह योग-विद्या का भी बुरा उपयोग हुआ, पर सच्चे आदमी उससे स्वाध्याय का आनंद पाते रहे । धीरे-धीरे समय ने करवट ली और लोग उससे वह फायदा उठाना भूल गये, जिस फायदे के लिए योग ने जन्म लिया था ।

इसी योग के बीज अरब की भूमि लाँघकर यूरोप पहुँचे और वहाँ उन्होंने सिर्फ अपना नाम ही बदला, रूप में कोई अन्तर नहीं आया ।

यह सुनकर अचरज नहीं होना चाहिए कि योग नामी मनोविज्ञान के पेड में नयी-नयी शाखाएँ ऐसी निकलीं कि जिन्हें हो सकता है, आज लोग योग से बिलकुल असंबद्ध समझें । पर वह हर तरह है योग की ही शाखाएँ । क्या छंद, क्या नाटक, क्या शिल्पकला, क्या गायन, क्या नृत्यकला, सबकी सब योग की देन हैं । आज उन्हें योग का अंग मानने में भले ही कुछ कठिनाई हो, फिर भी वे योग का अंग ही बनी रहेंगी ।

यही योगनामधारी मनोविज्ञान जब यूनान और मिस्र पहुँचा, तो ज्योतिष, कीमिया, जादू नाम ले बैठा । ऐसा न कभी कोई समय रहा, न देश रहा, फिर वह चाहे पूरब का हो या पश्चिम का, जहाँ यह मनोविज्ञान किसी-न-किसी रूप में मौजूद न रहा हो । इसी बात को हम यों भी कह सकते हैं कि आत्म-पठन यानी स्वाध्याय का रिवाज बहुत पुराना है । इस कला के बिना आदमी तरक्की के

मैदान में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। स्वाध्याय के जरिये ही हममें सच्चा 'अहम्' जागता है और इच्छा-शक्ति से वही 'अहम्' ठीक-ठीक काम ले सकता है।

हमारे 'अहम्' और हमारी 'इच्छा' का आजकल क्या हाल है, इसकी बात हम आगे करेंगे। पहले हम यह कहना चाहेंगे कि मनोविज्ञान के क्या-क्या सिद्धांत हैं और कितनी पद्धतियाँ हैं।

मनोविज्ञान की पद्धतियाँ

मनोविज्ञान की अनेक पद्धतियाँ होते हुए भी वे दो भागों में बाँटी जा सकती हैं। एक यह कि मनुष्य हमें कैसा मालूम होता है और हमने उसे क्या समझ रखा है, दूसरी यह कि आदमी क्या हो सकता है या क्या बन सकता है।

जिस तरह खाने-पीने के बारे में यह सवाल उठाना खतरे से खाली नहीं कि 'आदमी क्या खा सकता है?' वैसे ही आदमी के बारे में यह सवाल उठाना खतरे से खाली नहीं कि 'आदमी क्या है और हमने उसे क्या समझ रखा है।'

जैसे 'आदमी क्या खा सकता है' के जवाब में यह कहा जा सकता है कि आदमी अनाज खा सकता है, फल खा सकता है, मांस खा सकता है, ईंट-पत्थर खा सकता है या वह सब कुछ खा सकता है, जिसको वह बच्चे की तरह, मुँह में रख सके, चबा सके और निगल सके, फिर चाहे वह उसे पचाकर अपनी देह का हिस्सा बना सके या न बना सके। वैसे ही 'आदमी क्या है और हम उसे क्या समझे हुए हैं' के जवाब में यह बात कही जा सकती है कि वह समझदार है, बहादुर है, साहसी है, कलाकार है, शरीर है, चालाक है, चोर है, लुटेरा है और वह सब है, जो हमें देखने और सुनने को मिलता है।

अगर मनोविज्ञान आदमी की सिर्फ इसी बात को ले बैठे कि 'वह जैसा है, वैसा क्यों है' तो मनोविज्ञान का होना-न-होना एक सरीखा। और आज का पश्चिमी मनोविज्ञान इसके सिवा और है ही क्या?

स्वाध्याय का संबंध इस तरह के मनोविज्ञान से बिलकुल नहीं रह सकता। स्वाध्याय की गरज न इतनी है और न इतनी होनी चाहिए कि आदमी सिर्फ यह

जान ले कि वह क्या है और जो वह है, वह वैसा क्यों है ? स्वाध्याय की गरज यह है कि आदमी अपने अन्दर बैठे हुए एक को पहचाने और उसी एक की अथाह शक्तियों का अध्ययन करे। वही एक फूट-फूटकर अनेक रूप में जो खेल खेल रहा है, उस फूट को कम करे और धीरे-धीरे बिलकुल मिटा दे।

जैसे खाने-पीने के बारे में यह सवाल करना कि 'हमको क्या खाना चाहिए', भलाई और स्वास्थ्य से भरा होता है, वैसे ही आदमी के बारे में यह सवाल करना कि 'वह क्या बन सकता है' आदमी के भावी विकास के लिए बड़े काम का साबित हो सकता है।

'क्या खाना चाहिए' इस सवाल के जवाब में जैसे यह कहा जा सकता है कि हमको वही चीजें खानी चाहिए, जो हमारी देह को पुष्ट करें, हममें फुर्ती लायें, हमारे मस्तिष्क को ठीक-ठीक सोचने के काबिल बनायें, हमारे दिल में ऐसे भाव पैदा करें, जो खुशी और उमंगों से भरे हुए हों और जैसे इसी सवाल के जवाब में यह कहा जा सकता है कि हमें ताजा और रसीले फल खाने चाहिए, मेवे खाने चाहिए, ताजा और पूरे अनाज या इसीसे बनी हुई चीजें खानी चाहिए, ताजा दूध और खालिस शहद लेना चाहिए; वैसे ही 'क्या बन सकता है' इस सवाल के जवाब में यह कहा जा सकता है कि उसको ऐसा होना चाहिए कि वह अपने को पहचान ले, उसका हरएक काम उसका सोचा हुआ हो, उसकी इच्छा-शक्ति उसकी अपनी हो, और अपने अन्दर की शक्तियों का उसे इतना अच्छा ज्ञान हो कि वह उनका उपयोग अपनी और अपनों की भलाई के लिए कर सके और यह कि उन शक्तियों से सारे मानव-समाज को लाभ पहुँच सके।

उपयोगी मनोविज्ञान

जिस मनोविज्ञान का यह विषय है कि वह मनुष्य का भावी विकास सोचता रहे, वही मनोविज्ञान स्वाध्याय के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसी भावी विकास को लेकर जिस पद्धति ने पुराने भारत में जन्म लिया और जिस पद्धति को भारतीय सदा से अपनाते आये हैं और जिस पद्धति को ईरान, अरब, मिस्र और यूनान ने अपनाया, मनोविज्ञान की वही पद्धति, सबसे पुरानी, असली और सार्थक है। वही स्वाध्याय के लिए सबसे ज्यादा उपयोगी साबित हो सकती है।

आदमी क्या बन सकता है, कहाँ तक विकास कर सकता है, उस विकास की क्या रीति है, उस विकास के क्या सिद्धांत हैं, मनोविज्ञान के इसके सिवा और क्या विषय हो सकते हैं? जो मनोविज्ञान इस पद्धति को लेकर अपने कलेवर को भरता है, स्वाध्याय के लिए वही सबसे काम का साबित हो सकता है।

स्वाध्याय यानी 'आत्मपठन', यह मामूली बात होते हुए भी मुश्किल बात हो बैठा है। मुश्किल होने की और कोई वजह नहीं, सिर्फ यही है कि मुद्दतों से जिसको लोग स्वाध्याय समझे हुए हैं, वह स्वाध्याय नहीं है और जो स्वाध्याय है, उसे न लोग जानते हैं, न जानने को तैयार हैं।

'स्वाध्याय' मुश्किल काम है, क्योंकि उसमें जी ज्यादा देर नहीं लग पाता। 'स्वाध्याय' आसान काम है, क्योंकि उसकी तकनीक बड़ी सीधी-सादी है।

स्वाध्याय के लिए जिस तरह के मनोविज्ञान की जरूरत है, वह है तो बड़ा शास्त्र और विस्तारपूर्वक वह एक अलग ग्रंथ का विषय बन सकता है। पर काम लायक मनोविज्ञान का जिक्र स्वाध्याय के सिलसिले में जरूर किया जायगा और उतने भर से स्वाध्याय के लिए तैयार हुए आदमी का काम चल सकता है।

मनोविज्ञान की अनेक पद्धतियों में से हमारे काम की वही साबित हो सकती है, जो आदमी के विकास में सहायक हो। शेष पद्धतियों को ऐसे ही छोड़ देना चाहिए, जैसे संतरा खाते वक्त छिलका छोड़ दिया जाता है या आम खाते वक्त छिलका या गुठली छोड़ दी जाती है।

आदमी के विकास की कथा-परम्परा

मनोविज्ञान को अगर विकास ज्ञान नाम दिया जाय, तो बेजा न होगा। विकास एक ऐसी चीज है, जो आदमी का साथ उस वक्त से दे रहा है, जिस वक्त आदमी ने यह जाना भी न था कि वह आदमी है। यों तो कई बातों में आदमी आज भी जानवरों से बहुत पीछे है। पर जब आदमी ने अपने को आदमी भी नहीं जाना था, उस वक्त तो वह जानवर से बहुत-सी बातों में कहीं पीछे था। जिस तरह वह आज जानवरों से पीछे होते हुए भी बहुत आगे है, वैसे ही शुरू की अवस्था में भी वह जानवर से काफी आगे था।

आदमी का विकास कहकर हम क्या कहना चाहते हैं ? और आदमी के विकास के लिए क्या कोई शर्त या शर्तें जरूरी हैं ?

आदमी के विकास की कथाएँ पूरब और पच्छिम, दोनों जगह मिलती हैं। पूरब में उन कथाओं का नाम 'पुराण' है और आदमी के विकास का नाम 'अवतार' है। वह कच्छ, मच्छ, सूकर, नृसिंह इत्यादि रूपों में पाया जाता है। पच्छिम में आदमी के विकास की कथा को 'विज्ञान' नाम दिया गया है और वहाँ आदमी के विकास को सीधे-सीधे नाम दिये गये हैं यानी यह कि वह पहले मछली रहा, फिर थल का प्राणी बना, फिर पूँछवाला बन्दर हुआ, फिर बे-पूँछ का बन्दर और दो पाँव पर चलना सीखकर आदमी हो गया।

दोनों तरह की इन कथाओं में कोई सचाई रह सकती है। पर आज उन्हें ज्यों-की-त्यों स्वीकार कर लेने से और मनोविज्ञान के शास्त्र में जगह दे देने से आत्मपठन में कोई आसानी नहीं हो सकती। स्वाध्याय के लिए इस वक्त यही ठीक होगा कि हम यह मानकर चलें कि हम यह बिलकुल नहीं जानते कि आदमी शुरू में कैसे बना, कैसे पैदा हुआ, कैसे रिंगा, कैसे क्या हुआ और स्वाध्याय के खातिर हम यह भी मान लें कि हम यह भी नहीं जानते कि आदमी दो पैरों पर कब और कैसे चलने लगा और यह भी नहीं जानते कि आदमी ने कब बोलना सीखा और कब सोचना सीखा।

इतिहास-विज्ञान बड़ी तेजी के साथ तरक्की कर रहा है। जिस बात को वह कभी ढाई हजार बरस पुरानी बताता था, आज वह उस बात को लाखों बरस पुरानी कह रहा है। नयी-नयी खोजों और नयी-नयी खुदाइयों से नयी-नयी बातें इतिहास के लिखनेवालों के हाथ लग रही हैं और इसलिए वे नित-नये इतिहास के वैज्ञानिक सिद्धान्त गढ़ते रहते हैं।

इतिहास-काल से पहले के आदमी के बारे में कुछ कहना बहुत मुश्किल काम है। इतिहासकार खुद भी यह ठीक-ठीक नहीं बता सकते कि वह आज के आदमी से कितना मिलता-जुलता था और उसकी हड्डियाँ किस तरह की और कितनी लम्बी थीं। उस समय का आदमी तो शायद उस आदमी से भी नहीं मिलता था, जिसे इतिहासकार निरा जंगली आदमी बताते हैं।

पुराण लिखनेवाले आदमी के बारे में कुछ इस तरह की बातें कहते हैं, जिनको अगर ज्यों-का-त्यों मान लिया जाय, तो विकास की जगह हमे ह्रास-सिद्धान्त को देनी पडेगी। और फिर स्वाध्याय के रास्ते मे सिर्फ नये कँटीले झाड खडे कर लेने होंगे।

आदमी और प्रकृति

आदमी है यानी आदमी का अस्तित्व है, बस अस्तित्व है। इस अस्तित्व के नाते आदमी अपने में पूरा नहीं है। प्रकृति को उसका यह अधूरापन जरा भी नहीं भाता। वह उसको पूरा करने की कोशिश में जुटती है और बहुत दूर तक उस काम में सफल होती है। पर अचानक फिर उससे हाथ खींच लेती है और आदमी फिर युगों के लिए वही करने लग जाता है।

प्रकृति ऐसा क्यो करती है? ऐसा वह यों करती है कि आदमी प्रकृति का पूरा-पूरा साथ नहीं देता, वह अपने-आपको जानने की जरा भी कोशिश नहीं करता। ऐसा वह क्यो नहीं करता, यह बात तो हम आगे कहेंगे और यही तो हमारी इस 'स्वाध्याय' किताब का विषय है। पर यहाँ इतना जरूर कहे देते हैं कि आदमी अगर अपने-आपमें सिर्फ अधूरा होता, तो प्रकृति की मदद से फायदा उठाकर वह बहुत जल्दी पूरा हो जाता या बहुत अंशों में पूरा हो चुका होता। पर वह तो अधूरे होने के साथ-साथ अपने अहं को इस तरह छितराये हुए है, जिस तरह पारे का ढेला।

प्रकृति उसे विकसाकर जहाँ छोड देती है, वहाँ से आगे आदमी अपनी मेहनत से कुछ बढता तो है, पर काफी आयु न पाने से विकास का अभ्यास-मात्र उसका अपना रह जाता है और विकास हाथ से निकल जाता है। इसलिए उसको फिर से विकास के काम मे लगना पडता है।

अब यह वक्त आ गया कि हम यह समझ लें कि विकास से हमारा मतलब है उन भीतरी गुणों की उन्नति, जो हममें है, पर जो अपना पूरा काम नहीं करते, पर जिन गुणों मे यह खासियत भी नहीं है कि वे हवा-पानी पाकर बीज की तरह अपने-आप अंकुर फोड सकें और पेड़ का रूप ले सकें।

हमारा अपना अनुभव और वह अनुभव, जो हमने किताबों के जरिये व अपने बाप-दादा से पाया है, वे दोनों अनुभव हमें यह बताते हैं कि हमारे भीतरी गुणों का विकास हर अवस्था में नहीं हो सकता। हमारी अपनी मेहनत के साथ-साथ हमें किसी दूसरे की मेहनत की भी जरूरत पड़ती है। फिर चाहे वह माता-पिता की हो, गुरु की हो या किसी और की। हम कितने ही ऊँचे संस्कार लेकर क्यों न पैदा हुए हों, हम दूसरों की मदद के बगैर शुरू में अपने-आप आगे नहीं बढ़ सकते। हमें विकास के तरीके इसी तरह सीखने पड़ेंगे, जिस तरह सरकने, घुटनों चलने, दो पैरों पर चलने, खाने-पीने और बोलने के तरीके सीखने पड़ते हैं।

अपनी कोशिश के बगैर विकास असम्भव, दूसरों की मदद के बगैर भी वह असम्भव। पर ये दोनों असम्भव शर्तें मिलती हर तरह सम्भव और काफी आसान—निराश होने की जरूरत नहीं। ठीक ढंग से किया हुआ कुछ दिन का स्वाध्याय ही अँधेरे में उजाले की किरण पैदा कर देगा। और फिर सब मुश्किलें आसान हो जायँगी।

मामूली तार में और उस तार में, जिसमें बिजली की धार बह रही है, देखने में कोई अन्तर नहीं होता। पर दोनों दो अलग चीजें हैं। बिजली-विद्या का जानकार ही उनमें अन्तर नहीं करता, आप और हम भी उन दोनों में अन्तर करते हैं। एक से बेखबर और दूसरे से होशियार रहते हैं, ठीक इसी तरह से उस आदमी में, जिसने कोई उन्नति नहीं की और उस आदमी में, जो खूब उन्नति कर गया है, देखने के लिए कोई अन्तर नहीं मिलेगा, पर उन्नति किया हुआ आदमी तो एकदम अलग किस्म का आदमी हो गया है। इस तरह के अलग किस्म के आदमी की बात हम पहले कह चुके हैं। जंगली हालत में जंगली आदमियों में उन्नति किया हुआ आदमी अलग था, पर देखने में अलग नहीं दिखाई देता था। आज भी उन्नति किया हुआ आदमी अलग है, पर अलग नहीं दीख पड़ता। अब समझना यह है कि अलग किस्म के आदमी से हमारा क्या मतलब है?

हिंदुस्तान के कुछ ऋषिय का यह कहना है कि कुछ प्राणी ऐसे है कि जो पूरी उन्नति कभी नहीं कर सकेंगे। यह कहकर उन्होंने किसी क़िस्म का अन्याय नहीं किया। उन्होंने सिर्फ़ प्राणी-स्वभाव का वर्णन किया। वे यह कहाँ कह रहे हैं कि वह कुछ प्राणी पूरी उन्नति नहीं कर सकेंगे, वह पूरे उन्नत हो भी नहीं सकेंगे। उन्नत हो सकने की योग्यता सब प्राणियों में एक-सी है, पर उन्नति कर सकने की योग्यता सबमें एक-सी नहीं है। और, यही मनुष्य स्वभाव का अध्ययन है।

स्वाध्याय सबके विकास का समान साधन है, पर स्वाध्याय के काम में समान रूप से सब लोग लगते कहाँ हैं?

यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि सब आदमी उन्नति नहीं कर सकते और सबके सब अलग किस्म के नहीं हो सकते, क्योंकि अगर सबके सब अलग किस्म के हो जायँ, तो अलग किस्म जैसी बात ही नहीं कही जा सकती।

असल में विकास अपने-अपने प्रयत्न पर निर्भर है, और प्रयत्न यानी कोशिश हर आदमी नहीं करता। कोशिश करने का काम और फिर अपने पढने की कोशिश करने का काम दुनिया में बहुत कम होता जा रहा है। आज के जमाने में इस काम में लगने के लिए किसीके पास वक्त ही नहीं।

स्वाध्याय की बात कौन सुनेगा, इसकी हमें चिंता नहीं। हम स्वाध्याय करते हैं, हमें आनंद आता है। हम स्वाध्याय की बात कहते हैं, हमें सुख मिलता है। हम स्वाध्याय के अनुभव लिखते हैं, हमें स्वाध्याय में मदद मिलती है। फिर हम क्यों न अपने अनुभव दूसरों तक पहुँचा दें?

उन्नति क्या और कैसे ?

१. विकास के रास्ते में आदमी एक अलग तरह का आदमी बन जायगा, इसका क्या मतलब?

२. अलगपने से ही आपका क्या मतलब?

३ जिन लोगों को आप कहते हैं कि वह आदमी के अन्दर उन्नति कर जायेंगे, वे गुण कौनसे?

४ सब आदमी उन्नति क्यों नहीं कर सकते?

'सब आदमी उन्नति क्यो नही कर सकते', इस सवाल का जवाब पहले ही दिया जा चुका है। यहाँ इतना और कह देते हैं कि सब आदमी वैसा चाहते ही नहीं। वे उन्नति करने की बात सुनकर भी अनसुनी कर देते है। उन्हें अवनति मे इतना रस आने लगा है कि उन्नति की बात उन्हें कडुवी लगती है। फिर बताइये, सब आदमी कैसे उन्नति कर सकते हैं?

उन्नति करने की चाह उन्नति के लिए काफी नहीं। उन्नति की जरूरत का ज्ञान उन्नति के लिए काफी नहीं। उन्नति करने का ज्ञान उन्नति के लिए काफी नहीं। उन्नति की सच्ची और निरतर लगन ही उन्नति के लिए काम की चीज हो सकती है। बाहरी परिस्थितियों से घबराकर या थककर उन्नति के काम में लगा हुआ आदमी कुछ भी नहीं पा सकता। श्मशान-वैराग्य की बात किसको नही मालूम? वह वैराग्य कभी टिकाऊ नहीं हुआ, क्योकि उसके पीछे वैराग्य की लगन नहीं होती।

विकास की लगन और स्वाध्याय का पहिया

स्वाध्याय से जिस विकास का ज्ञान होता है, वह विकास इस समझदारी पर निर्भर है कि आदमी यह अच्छी तरह जान जाय कि उसे दुनिया से क्या लेना है और क्या देना है।

स्वाध्याय से विकास की लगन पैदा होती है और विकास की लगन से स्वाध्याय में मन लगता है। इस तरह विकास की लगन और स्वाध्याय का पहिया घूमता रहता है और आदमी की गाडी आगे बढ़ती रहती है।

लगन जैसे ही स्वाध्याय का मुख्य विषय बनी कि आदमी में अलगपन आया और इसी अलगपन को हमें समझ लेना है।

अलगपन

अलगपन से बस इतना होता है कि हमारे अन्दर के गुण किसी हद तक धुल जाते हैं। इस अलगपन की बात को समझने के लिए हमें इस तरह आसानी होगी कि हम गरम पानी को लें और उसको ठीक-ठीक समझने की कोशिश करें।

पानी गरम नहीं, ठंढा होता है, पर आग की सोहबत में आकर वह इतना गरम हो जाता है कि उसको ठंढा समझकर अगर कोई पीने लगे, तो अपना मुँह जला लेगा। ठीक इसी तरह आदमी के अन्दर बर्दाश्त की बड़ी ताक्त मौजूद है। उसी बर्दाश्त को क्षमा भी कहते हैं। पर वही बर्दाश्त यानी क्षमा बाहरी परिस्थितियों की गर्मी से मिलकर क्रोध का रूप ले लेती है और मौके-बे-मौके अपना रंग दिखाती रहती है। क्षमा ही क्रोध का रूप लेकर आदमी के अहं को इतना छितरा देती है कि आदमी का अह आदमी को ही अनेक अहमों मे बँटा हुआ दिखाई देता हैं। बस, विकास से हमारा छितरा हुआ अह इकट्ठा होकर एक होने में लगना शुरू कर देता है। बस, इमी काम की वजह से वह आदमी और आदमियों से अलग किस्म का हो जाता है। अब अलगपने के माने हुए नये गुणों का हासिल करना और ऐसी नयी ताकतों को पा जाना, जो अब तक आदमी के पास नहीं थीं।

नयी ताकत और नये गुण सिर्फ कहने के लिए हैं, असल में तो पुराने गुण ही मँजकर नया रूप ले लेते हैं और वही नयी ताकत देने लगते हैं। 'दुनिया की सारी पद्धतियाँ आदमी की भीतरी बढ़वारी पर विश्वास करती हैं। अगर ऐसा न करें, तो काम ही नहीं चल सकता।

नयी ताकतों को समझने के लिए यहाँ ठहरना बेकार है। स्वाध्याय में हम जैसे-जैसे आगे बढ़ते जायेंगे, वैसे-वैसे उनका ज्ञान हमें होता जायगा।

नया बल—नयी ताकत कहने की चीजें हैं। कोई नयी चीज बाहर से आदमी में नहीं आती। आदमी को वह सब गुण, वह सब ताकत नयी मालूम होती है, जो उसके अन्दर दबी बैठी रहती है और जिसकी जानकारी उसको नहीं होती।

यह बात अनोखी तो लगेगी, पर है बिलकुल सच कि आदमी यह समझ बैठा है कि उसमें बहुत-सी ताकतें मौजूद हैं और वह उनसे काम ले रहा है; जब कि उसमें न वह ताकत है और न वह उनसे काम ले रहा है।

आदमी की हालतें

हिन्दुस्तान के संतों ने ही नहीं, हिन्दुस्तान के बाहर और लोगों ने भी यह

मान रखा है कि आदमी के अन्दर परमेश्वर निवास करता है। परमेश्वर में जो शक्तियाँ मान रखी है, वे किसीसे छिपी नहीं है। भारत के कुछ संत ऐसे हुए हैं, जो यह मानते हैं कि परमेश्वर है तो सब आदमियों के अन्दर, पर वह परमेश्वर का काम नहीं कर रहा है, परमेश्वर बनने की कोशिश में है। इस तरह की सब मान्यताएँ आदमी को कुछ बल तो देती हैं, पर सब आदमियों को नहीं। बहुत-से आदमी तो इस मान्यता की वजह से अपनी गाँठ का थोडा-बहुत बल खो बैठते है। आदमियों की बाहरी हालत पर गौर करके एक अरबी विद्वान् ने बहुत अच्छी बात कह डाली। वह यह है :

"वह जो नहीं जानता, और नहीं जानता कि वह नहीं जानता, वह 'मूर्ख' है। उससे बचना चाहिए।

"वह जो नहीं जानता और जानता है कि वह नहीं जानता, वह 'सीधा-सादा आदमी' है। उसको सीख दी जा सकती है।

"वह जो जानता है और नहीं जानता कि वह जानता है, वह 'सोया हुआ' है। उसे जगा देना चाहिए।

"वह जो जानता है और जानता है कि वह जानता है, वह 'ज्ञानी' है। उससे सीख लेनी चाहिए।"

दुनिया पहली तरह के आदमियों से भरी पडी है। दूसरी तरह के आदमी भी कुछ कम नहीं है। तीसरी तरह के आदमियों में आजकल के निन्यानवे फी सदी विद्वान् समा जाते है, इससे ज्यादा भी समा जाते हो, तो अचरज नहीं। चौथी तरह के आदमियो में किन-किनकी गिनती की जाय, यह बडा मुश्किल सवाल है। और तो और, जिसको हम 'अहं' नाम से पुकारते हैं और जिसको हम इच्छा-शक्ति नाम देते है, वह दोनों भी हमारे अन्दर या तो छितरी हुई है या सोयी हुई हैं।

अगर हम भूल नहीं करते, तो उपनिषद् मामूली आदमियो के लिए नहीं लिखे गये। ज्ञानी विद्वानों के लिए लिखे गये है और उन उपनिषदों में से एक में लिखा है :

कलजुग सोये रहने का नाम है।
जाग जाने का नाम द्वापर है॥

उठ बैठने का नाम त्रेता है।
काम में लग जाने का नाम कृतयुग है॥
चले चलो, चले चलो, चले चलो।

इस उद्धरण के आधार पर हमें यह कहने की हिम्मत हो जाती है कि हममें से हरएक जब 'मैं हूँ' कहता है, तब 'मैं हूँ' समझता नहीं है। 'मैं हूँ' तो पिजड़े में बन्द तोता भी कह सकता है। इसी तरह से हममें से हरएक जब कहता है 'मैं कर रहा हूँ' तब वह कर रहा नहीं होता। उनसे कराया जा रहा होता है। बड़े-से-बड़ा सरकारी अफसर यह नहीं कह सकता कि वह खुद कुछ करता है, वह तो ऊपर के अफसर के हुक्म के इशारे पर काम करता है। सचमुच खुद करनेवाले रह गये सन्त। वे इतने विनम्र होते हैं कि वे अपने सारे किये हुए कामों को ईश्वर का किया हुआ मानते हैं। हम संतों की इस बात को कोरी विनम्रता मानते हैं। सच बात यह है कि वे जिसको 'ईश्वर' नाम से पुकारते हैं, वह उन्हींमें बैठा हुआ 'अहं' होता है और उसी 'अहं' को पहचान लेने के लिए 'स्वाध्याय' किया जाता है। स्वाध्याय का दूसरा नाम 'अहं अध्ययन' भी हो सकता है।

हमारी भलाई इसी बात में है कि हम यह मान लें कि हम अपने-आप कुछ नहीं जानते। ऐसा माने बगैर पूरे जी से हम स्वाध्याय में न लग सकेंगे। हम अपने-आप नहीं जानते कि यह एक सच्चाई है, धोखा नहीं।

आदमी अपने को ही नहीं जानता

आदमी हर जगह, हर समय, हर हालत में, हर बात को एक-सा नहीं जानता। एक जगह कुछ, दूसरी जगह कुछ, एक समय कुछ, दूसरे समय कुछ, एक हालत में कुछ, दूसरी हालत में कुछ, एक चीज को कुछ, उसी चीज को दूसरी तरह से कुछ। थोड़े शब्दों में यही बात यों कही जा सकती है कि आदमी को यही नहीं मालूम कि उसकी जानकारी की सीमा कहाँ है और उसकी जानकारी का बल कितना है। जानकारी का ज्ञान नहीं है, न सही, उसे तो अपनी अजानकारी का भी ज्ञान नहीं है। तभी तो किसी कवि ने लिख दिया :

हम तो समझे थे, हम इल्म से कुछ जानेंगे।
पर जो जाना तो यह जाना कि न जाना कुछ भी॥

आदमी के आविष्कारों की अगर गिनती की जाय, तो गिनती करना मुश्किल हो जाय। पर क्या आदमी की बनायी हुई मामूली मशीन को भी सारे आदमी अच्छी तरह जानते है? इतना ही क्यों, कई पुश्तों से कातने का काम करनेवाली बुढ़िया भी क्या चरखे को पूरा-पूरा और ठीक-ठीक समझती है? भारत में जब चरखे में फिर से जान डाली गयी, तब उसके पूरे जानकार ढूँढे न मिले।

देह की विपरीत जानकारी

पूरी जानकारी को छोड़िये। चरखे जैसी मामूली मशीन के लिए भी कुछ दिनों सीखने की जरूरत पडती है। तब फिर आदमी जैसी ऍचकपेची मशीन को जानने की कितनी जरूरत है, इसका अंदाजा किया जा सकता है। स्वाध्याय का सबसे पहला काम तो इस मशीन का अध्ययन ही होगा और फिर यह मशीन 'स्व' नहीं है। 'स्व' इस मशीन के परे है। वहाँ तक इसकी पहुँच कब होगी, इस बात को इस वक्त नहीं उठाया जाता। इस वक्त तो हमें सिर्फ यही कहना है कि आदमी जिस देह को अपनी समझे हुए है, उसकी उसको बहुत कम जानकारी है। कम जानकारी है, यह बुरी बात नहीं, उसे तो उल्टी यानी विपरीत जानकारी है। किसीने इस देह को घिनौनी थैली समझ रखा है, किसीने उसे हाड़-मांस की बनी हवेली समझ रखा है, किसीने ऊँची उडान ली, तो उसे भगवान् का मन्दिर मान लिया है। आजकल के युग के विद्वानों ने उसको मशीन नाम दे रखा है। इन सब बातों से यह पता चलता है कि आदमी की देह ऐसी जरूर है कि उसको अच्छी तरह पढा जाय। जब तक स्वाध्याय के जरिये हम 'स्व' को न पहचान लें, तब तक यह देह ही हमारा 'स्व' है और हम आजकल सौ फी सदी इसी देह से तो शासित होते है। हम तन्दुरुस्त है, तब और तरह सोचते हैं, हम बीमार है तब और तरह, हम आफत मे फँस जाते है, तब और तरह, आफत से निकल जाते है, तब और तरह। इसलिए यही अच्छा है कि हम आदमी की मशीन का अध्ययन करना शुरू कर दें।

आदमी मशीन है

आदमी को मशीन न कहें, तो क्या कहें ! गर्मी की ऋतु आयी कि उसने पखा हाथ मे उठाया, आसमान मे बरसाती बादल छाये कि उसने छत पर मिट्टी डालने के लिए टोकरी उठायी, जाड़े की ऋतु आयी कि उसने धुनकी उठायी और रूई धुनकना शुरू की। दिन निकला कि उसने बिस्तर छोड़ा, रात आयी कि उसने चारपाई बिछायी। उसका अपना काम कहाँ है ? बाहर जितना परवश है, अंदर भी वह उतना ही परवश है। खाना पेट में पहुँचा कि बिलोने का काम शुरु हुआ, मथकर जैसे ही रस बना कि छोटी आँतो मे पहुँचा, कुछ गुर्दे मे चला गया, कुछ कहीं चला गया, बाकी बचा वही आँतो में पहुँच गया। जब वहाँ इतना ज्यादा इकट्ठा हो गया कि जगह न रही, तो आदमी को उठना पड़ा और थैली का मुँह खोलकर उसको कहीं पटकना पड़ा। इस सबमें भी उसका अपना कहाँ है ! वह रात को सोता है, न जाने उसके अदर क्या-क्या होता रहता है। उस होने को वह अपना किया हुआ मानने की कब हिम्मत करता है और वह हिम्मत करे भी तो कैसे ! जागते हुए वह जो कुछ करता है, उसका भी कर्ता वह कहाँ है ? असल में जो कुछ भी आप करता है, वह सब भी होता या हो जाता है।

आदमी सचमुच मशीन है। क्योंकि बाहरी परिस्थितियाँ उसमे हिलन-डुलन पैदा करती हैं। बाहरी धक्के उसे एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं। वह चलता है तो बाहरी धक्के से, काम करता है तो बाहरी धक्के से, बोलता है, सोचता है, हँसता या रोता है, बनता या बिगड़ता है, सो सब बाहरी प्रभाव से। रही उसकी याद (स्मृति), वह भी उसकी अपनी कहाँ है ? वह जब चाहे उससे कहाँ काम ले सकता है ? उससे काम लेने के लिए इसी तरह बाहरी साधन की जरूरत है, जिस तरह ग्रामोफोन का तवा बजाने के लिए सूई, बकस और चाबी घुमाने की जरूरत पड़ती है।

आदमी मशीन है, पर मशीन बना नहीं रहेगा।

आदमी कुछ नहीं कर सकता

आदमी कुछ नहीं कर सकता। पर उसे समझना पड़ेगा कि वह कुछ नहीं

कर सकना। वह समझे तो यह बैठा है कि वह सब कुछ करता है। उसे यह पता ही नहीं कि यह सब उससे कराया जा रहा है। अपने कर्तापने की भूल उसे दूर करनी होगी। कुछ संतो ने यह कहा तो है कि आदमी बिलकुल कर्ता नहीं है, वह तो ज्ञाता है। पर ज्ञातापने की बात तो आदमी को बिलकुल नहीं मालूम। उसे तो कर्तापने की बात मालूम है और जो उसे मालूम है, वह गलत मालूम है। यह खोटी जानकारी न उसे ज्ञाता बनने देती है और न कर्ता रहने देती है।

आग जलती है, पानी बरसता है, हवा चलती है—इसी तरह भाषा ने अभी तक ऐसे मुहावरे नहीं अपनाये कि जैसे नींद आती है, खाना खाया जाता है, रास्ता चलता है, विचार सोचा जाता है, बात कही जाती है, नाच नाचा जाता है। आदमी के लिए ऐसे मुहावरे अपनाने की जरूरत थी। आज का आदमी सोता नहीं है, नींद उसे सुलाती है। किसने नहीं देखा कि माँ बच्चे को सुलाने के लिए नींद से प्रार्थना करती है, 'आ जा री निंदिया आ जा, मेरे मुन्ना को सुला जा' यह कोरी कवि-कल्पना नहीं है, सचाई है, इसमें असलियत छिपी हुई है। वास्तव में आदमी जो कुछ कर रहा है, वह कर नहीं रहा, हो रहा है।

आदमी अपनी मर्जी से न चल-फिर सकता है, न सोच सकता है, न बोल सकता है। वह इस तरह काम कर रहा है, मानो वह डोरे से बँधी हुई कठ-पुतली हो। पर अगर कहीं वह इस सचाई को समझ ले, तो दूसरे दिन से ही वह बदल जाय और कुछ और ही हो जाय। इस सचाई की अजानकारी ही, उसे आदमी होते हुए, कठपुतली बनाये हुए है। स्वाध्याय उसे कठपुतली से आदमी बना देगी।

आदमी का कठपुतलीपन

आदमी कठपुतली है, पर अपने ढंग की अनोखी कठपुतली है। कठपुतलियाँ कभी यह नहीं जान पायेंगी कि वे कठपुतलियाँ हैं, पर आदमी रूपी कठपुतली स्वाध्याय की मदद से एक-न-एक दिन यह जरूर जान लेगी कि यह कठपुतली हाड-मास की पुतली है। यह अनोखापन कुछ कम नहीं, बड़े काम की चीज

है। आप जानते हैं, इस जानकारी का नतीजा क्या होगा? नतीजा यह होगा कि आदमी आदमी बन जायगा और कठपुतली न रहेगा। और फिर वह किसीके भी हाथ की कठपुतली न रहेगा—न परिस्थितियों के हाथ की और न ईश्वर के हाथ की।

कठपुतली की आँख चलाने के लिए हमको कोई एक बटन दबाना पड़ता है, उसके हाथ चलाने के लिए दूसरा बटन दबाना पड़ता है, उसका सिर हिलाने के लिए तीसरा बटन दबाना पड़ता है। आदमी की बनायी अन्य मशीनों और यन्त्रों का यही हाल है। तरह-तरह का गाना सुनने के लिए बार-बार रेडियो की खूँटी उल्टी-सीधी मरोड़नी पड़ती है। मशीनों का भी यही हाल है। इन्हींसे मिलता-जुलता आदमी का हाल है। उसको गुस्सा दिलाने के लिए गाली की चाबी से काम लिया जाता है। उसको हँसाने के लिए बेतुकी कहानियों से काम लिया जाता है। उसको तलवार उठाने के लिए झूठी खबरों से काम लिया जाता है, लड़ाई के मैदान में मर जाने के लिए जन्नत की हूरों या स्वर्ग की देवांगनाओं की चाबी घुमायी जाती है और फिर लुत्फ यह कि आदमी के भीतर बैठा हुआ 'अहं' इन्हीं चाबियों के इशारे पर नौ रसों का ही नहीं, अनगिनत रसों का नशा पीकर कठपुतली जैसे नाच नाचता है। आदमी एकरस रह ही नहीं पाता अपने 'अहं' के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। एक कवि ठीक ही कह गया है:

यहाँ आदमी को जान से मारे है आदमी।
यहाँ आदमी पे जान को वारे है आदमी॥

—नजीर

जान ले लेना और जान दे डालना कठपुतली के काम हो सकते हैं, उस आदमी के नहीं, जिसने स्वाध्याय के जरिये अपने को जान लिया है।

टुकड़ों में बँटा हुआ 'अहं'

अनेक टुकड़ोंवाला यह अहं' आदमी के अन्दर आज का नहीं, बहुत पुराना है। कितना पुराना है, यह भी नहीं बताया जा सकता। हाँ, जब किसी

एक संत ने स्वाध्याय के बल से 'अहं' की एकता को पहचाना, तब उसने आदमियों के टूटे हुए 'अहं' को जोडकर एक बनाने के लिए सबसे पहली तरकीब यह निकाली कि उसने एक-एक आदमी का एक-एक नाम रख दिया। अब हाड-मास का बना हुआ हर आदमी अपने एक नाम से पैदा होने से मरने तक एक सरीखा बोल उठने लगा। दूसरे शब्दों में वह धोखे में आकर दिन में अनेक बार बदलनेवाले 'अह' को एक समझने लगा। धोखा धोखा ही रहा, वह एक कभी बन नहीं पाया। एक न बन सका, न सही, एक बनने की भावना भी उसमे नहीं जागी। आगे चलकर शिक्षा-दीक्षा से उसमें और तरह भी एकता की भावना जगाने की कोशिश की गयी, पर वह उन बातों में ही अपने को एक समझता रहा, बाकी कामों में ज्यों-का-त्यो अनेक बना रहा। जग्गू नाम से वह एक है, जग्गू जमादार से वह अलग एक है, जग्गू राजपूत से वह अलग एक है, मुन्नी के बाप जग्गू से वह अलग एक है और इसी तरह की कई बातों से वह कई एक है। पर उसके 'अह' की यह बनावटी एकता तो दूसरों के लिए है, उसके लिए कहाँ ? उसके अपने 'अह' का तो यह हाल है कि वह अपनी स्त्री का जब पति है तो कुछ और है, अपनी बेटी का जब बाप है तब कुछ और है, अपनी माँ का जब बेटा है तब कुछ और है, अपने गुरु का चेला है तब कुछ और है। अपने 'अह' के इन टुकडों मे वह अलगपना बनाये हुए है और कभी एकपना नहीं आने देता। यह सारा काम उसमें मशीन की तरह होता रहता है और वह एक कठपुतली बना रहता है।

साख्य के रचयिता कपिल मुनि ने जब यह बात कही कि पुरुष और प्रकृति के योग से 'महत्' बना और महत् से 'अहं' उत्पन्न हुआ और उसी 'अह' ने सत्य के साथ मिलकर जैसे ही मन का रूप लिया, पाँच ज्ञानेंद्रियो आ गयीं। और तम के साथ मिलकर पाँच कर्मेंद्रियाँ पैदा हो गयी और फिर पच भूत, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध के सहारे 'अह' प्राणी का रूप ले बैठा। कपिल मुनि के इस वर्णन के आधार पर यह पता लगता है कि यह 'अह' उसी दिन से, जिस दिन से उसने इन्द्रियो को अपनाया, कई टुकडों में बँट गया है। और तब से अब तक बराबर इने-गिने आदमियों की कोशिश चली आ रही है कि

किसी तरह इस बँटवारे को खतम करके एक 'अहं' की स्थापना की जाय। नाम रखने का रिवाज उस ओर एक कदम चलना मात्र है।

योगसूत्रकार पतंजलि ने इसी वास्ते चित्त की वृत्तियों को रोकने का नाम 'योग' रखा। 'योग' शब्द के माने भी जोड़ने के हैं। कई टुकड़ों में बँटे हुए 'अहं' को जोड़ने की जरूरत है। इस बात का ठीक-ठीक पता कि हमारा 'अहं' एक नहीं अनेक है, स्वाध्याय से ही लगेगा। इस बात का पता स्वाध्याय लगायेगा कि किस तरह ये टूटे-फूटे 'अहं' जोड़कर एक किये जा सकते हैं। इनको जोड़े बगैर हममें सच्ची चेतना कभी जाग्रत नहीं हो सकती। चेतना क्या चीज है और कितनी तरह की होती है, इसका वर्णन हम आगे करेंगे।

हमारे अलग-अलग विचारों के पीछे एक 'अहं' नहीं रहता। यही हाल हमारे मनोभावों, हमारी वेदनाओं, हमारी इच्छाओं, हमारी रुचियों और हमारी कषायों का है। बोलती तसवीरों का जब हम तमाशा देखते हैं, तब हमारे अन्दर जो तरह-तरह के भाव पैदा होते हैं, वे साफ बतला रहे हैं कि हमारा 'अहं' उसी तरह अनेक टुकड़ों में बँटा हुआ है, जिस तरह बोलती तसवीरों का फिल्म। आज यह किसको नहीं मालूम कि सिनेमा का फिल्म अलग-अलग तसवीरों से बना होता है। तेजी से घूमने की वजह से ऐसा मालूम होता है, मानो एक ही तसवीर तरह-तरह के काम कर रही है।

'आपे से बाहर हो जाने' का मुहावरा साफ बता रहा है कि हम बाहरी परिस्थितियों से किस हद तक शासित हैं। और यह किसको नहीं मालूम कि सभाओं में बैठकर हम बहुत जल्दी उसी रंग में रंग जाते हैं, जिस रंग में व्याख्यान देनेवाला हमको रँगना चाहता है। किसी-किसी विद्वान् ने तो यह कह डाला है कि सभाओं में बैठे लोग समुद्र होते हैं और बोलनेवाला तूफान। वह चाहे जिस तरह की लहर उठा सकता है। विद्वान् की यह बात बहुत दर्जे तक सही है, पर जरा ध्यान से देखने से हमें एक बात का पता और चलेगा और वह यह कि अगर उसी सभा में कोई एक आदमी ऐसा बैठा हो, जो बोलनेवाले का प्रतिद्वंद्वी हो, तो उसके ऊपर उसके व्याख्यान का कोई असर नहीं होता। यह बात हम इसलिए कह रहे हैं कि उतनी देर तक उस एक ने, जिस पर व्याख्यान

का कोई असर नहीं होता, अपने 'अहं' की झलक से अपनी इच्छा-शक्ति को पहचान लिया होता है और इसलिए वह बाहरी परिस्थिति के प्रभाव से अछूता रह जाता है।

नाटक में करुणा के खेल देख नाटक देखनेवाले आँसू बहाने लगते हैं, पर नाटक का वह नट हँस रहा होता है, जो किसीको सताकर देखनेवालों के लिए करुणा का स्वांग खड़ा कर रहा होता है। नाटक के और नटों का भी नाटक देखने और सुननेवालों से अलग हाल होता है। असल में नाटक के समय हरएक नट को अपने-अपने 'अहं' की झलक से अपनी-अपनी इच्छा-शक्ति पर काबू हो जाता है। अगर उन नटों के उनके 'अहं' के सब टुकड़े मिलकर एक नहीं हो जाते, तो कम-से-कम कुछ टुकड़े जरूर मिल जाते हैं।

'अहं' के टुकड़ों के कार्य

यह 'अहं' के टुकड़े हर आदमी में कभी-कभी थोड़ी-थोड़ी सख्या में मिलते रहते हैं। किसका किससे जोड़ है, इसका तरीका तो है, पर इसका उस 'अहं' के मालिक को पता नहीं। यही बात यों भी कही जा सकती है कि हममें हमारे 'अहं' के टुकड़े कभी किसी तरह के गुट बना बैठते हैं और कभी किसी तरह के। इन गुटों का भी अलग शास्त्र है, जिसका वर्णन हम चेतना के सिलसिले में करेंगे। इस समय इतना समझ लेना काफी है कि इस तरह के गुट हमारे अन्दर हैं, काम करते रहते हैं और अचानक टूटते और जुड़ते रहते हैं। हमारे स्वप्न इन गुटों का स्वरूप है। हमारे स्वप्नों का अलग-अलग सिलसिला होता है और वह बेतुका इसलिए होता है कि हमने बेतुकेपन से सोचने की आदत डाल रखी है। बेतुके-पन से सोचने की आदत यों पड़ी कि हमारा 'अहं' अनेक टुकड़ों में बँटा हुआ है। वह एक ही साथ कई बातें सोच जाता है। उनमें की हरएक बात अलग तरह का मनोभाव लिये होती है। यही कारण है कि सपने इतने बेतुके होते हैं कि उनके ठीक-ठीक याद रहने पर भी उनको दूसरों के सामने ज्यों-का-त्यों नहीं रखा जा सकता। यही कारण है कि सपने जल्दी भुला दिये जाते हैं।

हमारे मस्तक में अनगिनत गाँठोंवाली एक चादर ठूँसी हुई है, मानों

उसको किसीने गुडमुडाकर हमारे सिर में रख दिया हो। इस चादर में यह गुण है कि वह अनगिनत घटनाओं को बडी आसानी से अपने अन्दर सँजो सकती है। अगर हमारा 'अह' जोड़कर एक कर दिया जाय, तो हमारा 'अह' उन अनगिनत घटनाओं पर पूरा अधिकार पा सकता है और हमारी इच्छा-शक्ति हमारे 'अह' के तावे में आ सकती है। यह बात कहने को आसान है, करने के लिए बेहद मुश्किल। और इसी हालत को पाने के लिए हम स्वाध्याय की बात कह रहे हैं। वास्तव में ऐसी अवस्था को पहुँच जाना इतना आनन्ददायक होता है कि उसको भारत के ऋषियों ने 'जीवन्मुक्त' नाम दे डाला है।

इसे छोडिये। इस वक्त हमे यह जानना है कि हमारे टूटे हुए 'अह' का एक-एक टुकडा हमारे मस्तक की उस अनगिनत गाँठोवाली चादर की कुछ गाँठो का एक समय में प्रतिनिधित्व करना है। यह ऐसा करे तो बुरा नहीं, पर मुश्किल यह है कि वह टुकडा यह समझता है कि वह सारे मस्तक का प्रतिनिधित्व कर रहा है यानी सारे मस्तक की ओर से बोल रहा है। इसको साफ करने के लिए हम यों कहेंगे कि जब हम क्रोध करते हैं, तब हम यह समझ बैठते हैं कि सारे मस्तक ने हमें वैसा करने की इजाजत दी है और यह बडी भारी भूल है। अगर यह भूल हम सबके मस्तक से दूर हो जाय, तो आपसी द्वेष बेहद कम हो जायँ और बडी-बडी लडाइयाँ मिट न पावें, तो कम जरूर हो जायँ।

हमारे 'अह' का एक-एक टुकडा हमारी बुद्धि के कुछ अंश का ही प्रतिनिधित्व करता है। पर समझता यही है कि वह समूची बुद्धि की ओर से बोल रहा है। यही वजह है कि मूरख-से-मूरख आदमी अपने को पूरा समझदार मानता है, समझदारों से बढकर मानता है। अगर यह कहा जाय, तो गलत न होगा कि जब एक 'मैं' अपने को 'हम' कहकर बोलता है, तब शायद ठीक बोलता है। वास्तव में हममें से कोई एक 'मैं' कहकर बोलने का हकदार नहीं। 'मैं' कहकर वही आदमी बोल सकता है, जो अपने सारे मस्तक, सारे मन और समूची बुद्धि की ओर से बोल रहा हो और जिसकी सब इंद्रियाँ उसके काबू में हों। ऐसी हालत में उसकी इच्छा-शक्ति भी उसके तावे में होगी और फिर उसके मुँह से निकली बात अपने-आप प्रमाण मानी जायगी, पर ऐसा होता कहाँ है? होता यह है कि आदमी अपने

मस्तक, मन और बुद्धि के बहाने उसके छोटे अश को लेकर बात करता है और समझता है कि वह समूचे का प्रतिनिधि है। तुर्रा यह है कि अभी समूचे का प्रतिनिधि बनकर लड रहा था, थोडी देर में समूचे का प्रतिनिधि बनकर दया करने लगता है। उसे पहले 'अह' की याद ही नहीं रहती। ऐसी भूलें वह दिनभर मे अनेक बार करता है। यह भी कहा जा सकता है कि वह हमेशा ऐसी भूलें करता रहता है। स्वाध्याय से उसको इन भूलों का ज्ञान होगा और तब सभव है कि दिनभर में पल-दो पल वह भूलों से बच सके। यह फायदा कम फायदा नहीं।

बदलाव का रूप

'उन्नति किसे कहते है' इस बात का इशारा तो हम पहले कर चुके हैं। यहाँ हम उन्नति का वर्णन इस सिलसिले मे करना चाहते हैं कि उन्नति करने के बाद आदमी अलग किस्म का हो जाता है। यह अलग किस्म क्या है, यहाँ इसको भी खोल देना चाहते है। यो भी कहा जा सकता है कि आदमी में कौन-कौन बदलाव कब और कैसे शुरू होते है। बदलाव जीवन है और आदमी हरदम बदलता रहता है, पर हमारा इस समय हरदम के बदलाव से सबध नहीं। जिस बदलाव का हम जिक्र करने जा रहे है, उसे रोज के बदलाव की तुलना में क्राति कहा जा सकता है।

हम पहले कह चुके हैं कि आदमी ने कुछ ऐसी ताकतो को अपना मान रखा है और अपने हाथ मे समझ रखा है, जो वास्तव में न उसकी है और न उसके हाथ मे है। स्वाध्याय से वह उन्ही ताकतों में से कुछ को पा जाता है। यही बड़ा बदलाव है, यही क्राति है।

असल में भ्रम यानी धोखा बडी खतरनाक चीज है। सबसे बडा खतरा भ्रम मे यह है कि आदमी मूर्ख रहते अपने को ज्ञानी समझने लगता है और अज्ञानता में मस्त रहता है। इससे भी बुरी बात यह है कि जब वह समझता है कि मैं ज्ञानी हूँ, तो ज्ञान हासिल करने की कोशिश नहीं करता। इसी अनुभव के बल पर ऋषियो ने यह कह डाला कि कुछ लोग कभी पूरे आदमी न बन सकेंगे। इसमें उन्होंने अन्याय क्या किया ? वह यह बात कहकर उन पर यह छाप नहीं लगाना

चाहते कि वह कभी पूरे आदमी हो ही न सकेंगे। स्वाध्याय का रास्ता सबके लिए खुला है। हाँ, 'स्वाध्याय' यानी 'अपना अध्ययन' आप ही करना होगा। कोई ग्रंथ स्वाध्याय की जगह नहीं ले सकता, फिर चाहे वह सर्वज्ञ का कहा हो, अपौरुषेय हो या इलहामी हो या किसी भी प्रमाण-पुरुष का कहा क्यों न हो।

अपने प्रति सच्चा होना

उन्नति के पथ पर चलने के लिए सबसे पहली शर्त है, अपने प्रति सच्चा होना। अपने प्रति सच्चे होने की बात बडी आसान मालूम होती है, पर है सबसे मुश्किल। आदमी सुबह से शाम तक अपने से झूठ बोलता रहता है और अपने को धोखा देता रहता है। जो उसके पास नहीं, उसे समझता है कि वह उसके पास है। जो उसके पास है, उसे समझता है कि वह उसके पास नहीं। उसने संतों, ऋषियों, अपने बाप-दादाओं से यह सुन रखा है कि ईश्वर घट-घट में है और वह इस बात का अपने-आपको पक्का विश्वासी भी मानता है; तिस पर भी वह प्रार्थना करता है, जोर-जोर से ईश्वर को बुलाता है और उसे न जाने क्या-क्या मानता है। अब यह अपने प्रति झूठ बोलना या धोखा देना नहीं तो क्या है? दो में से एक जरूर झूठ है। या तो यह कि ईश्वर उसके घट में नहीं है, या फिर यह कि ईश्वर बाहर कहीं नहीं है। अगर वह बाहर भीतर सब जगह है, तो फिर किसकी प्रार्थना कौन क्यो करे? इस तरह के अनेक भ्रम आदमी अपने सिर बाँधे हुए है। उन्नति के पथ पर चल पडने के बाद उसे अपने को थोड़ा बदलना पड़ेगा और फिर यह अलग ही किस्म का आदमी हो जायगा। उसे यह मानना ही पडेगा कि उसमें काम करने की ताकत नहीं है, उससे कोई काम ले लेता है। व्यक्तित्व जैसी चीज उसके पास नहीं है, वह तो टूटे-फूटे 'अहं' का बंडल है। जिस अहंकार का कपिल मुनि ने वर्णन किया है, वह उसके अन्दर उस रूप में नहीं है, जिस रूप में होना चाहिए। दो शब्दों में यह कहा जा सकता है कि न उसमें इच्छा-शक्ति है और न आत्म-चेतना।

आत्म-चेतना और इच्छा-शक्ति

कोई प्राणी अचेतन नहीं होता। पर आत्म-चेतना हरएक में नहीं होती। सब

समझदारों, ऋषियों, संतों की दौड उस आत्म-चेतना को पाने के लिए ही रही है। इससे बढ़कर आत्मतत्त्व-चेतना है, पर उसका वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ इतना कह देना काफी है कि उन्नति के पथ पर चलनेवाले को यह मानकर ही चलना चाहिए कि वह इच्छा-शक्ति को वश करने जा रहा है और आत्म-चेतना को जगाने जा रहा है।

स्वाध्याय की बात तब तक कोई सुन ही नहीं सकता—स्वाध्याय करने के लिए तब तक कोई राजी हो ही नहीं सकता, जब तक वह यह न मान ले कि वह अपने 'स्व' को न अच्छी तरह पहचानता है, न उसकी अथाह शक्तियों की जानकारी रखता है।

इच्छा-शक्ति और चेतना, दोनों बड़ी धोखे की चीजें हैं। यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान् यहाँ तक कह बैठे हैं कि इच्छा-शक्ति और चेतना नाम की कोई चीज नहीं और दूसरी ओर भारत का यह हाल है कि यहाँ हरएक आदमी यह समझता है कि पेड-पौधे तो क्या, धरती-पानी-हवा में भी चेतना है। हम इस समय यह कह रहे हैं कि चेतना आदमी में है, पर नहीं जैसी बनी हुई है। वह सोयी हुई है, उसे जगाना है। जब हर भारतीय अपने में चेतना मानता है, तब वह यह कैसे सुनेगा कि चेतना उसे हासिल करनी है ? इसलिए हम चेतना जगाने की बात कहते हैं, हासिल करने की नहीं।

चेतना क्या नहीं है ?

चेतना क्या है, इसे हम पीछे कहेंगे। पहले हम यह कहना ठीक समझेंगे कि चेतना क्या नहीं है। चेतना वह बुद्धि नहीं है, जिसका संबध मन और मस्तिष्क से है।

१. चेतना वह क्रिया नहीं है, जो मन-मस्तक के हुक्म से हमारे हाथ-पाँव करते हैं।

२. कान से सुनना, आँख से देखना, नाक से सूँघना, जीभ से चाखना और छूकर ठंढा-गरम अनुभव करना चेतना की क्रियाएँ नहीं।

भारत के ऋषियों ने आत्मा को अनीद्रिय यों ही नहीं कह दिया, उसके पीछे बड़ा तत्त्व छिपा है। कपिल मुनि के कथन के अनुसार पुरुष प्रकृति से कभी अलग

था, या नहीं, पर पुरुष का अपना कुछ स्वभाव तो होना चाहिए। वही स्वभाव तो चेतना है। अब रह गयी यह बात कि यह चेतना है क्या ?

चेतना क्या है ?

ठीक तो यही रहता कि यह हम सब काम पढ़नेवालों पर छोड देते और वह खुद ही आत्म पठन से इस नतीजे पर पहुँचते कि चेतना क्या है ? पर अब, जब हम इस विषय को ले ही बैठे हैं, तो बहुत न कहकर कुछ तो कहेंगे ही।

पत्थर में जिस तरह आग छिपी रहती है या बीज में जिस तरह पेड़ सोया रहता है, वैसे ही प्राणी में चेतना छिपी और सोती रहती है। चेतना के लिए छिपने का शब्द तो खप सकता है, पर सोने का शब्द किसी तरह नहीं खप सकता। भाषा में शब्दो की कमी है, इसलिए मजबूरी है। चेतना सोती नहीं। आदमी के अन्दर जो चेतना है, जो आदमी को यह ज्ञान कराती रहती है कि वह 'है'। आदमी को जिस 'है' का ज्ञान दुनिया के सामने रखना है, वह उसके मस्तक की देन है, सीधी चेतना की देन नहीं। चेतना की 'है' और मस्तक की 'है' मे जमीन-आसमान का अन्तर है। चेतना की 'है' का मतलब है, अपने होने की जानकारी, और यह जानकारी कि वह 'कौन है ? कहाँ है ? क्या जानता है ? क्या नहीं जानता ?'

आदमी जब भी 'मै हूँ' कहता है, तब अलकारी भाषा में। शायद चेतना हँस देती होगी कि यह क्या 'मै हूँ' 'मै हूँ' कर रहा है, क्योंकि उस 'मैं हूँ' के पीछे चेतना न रहकर चेतना की छाया रहती है।

हम कितना ही लिखने की कोशिश क्यों न करें, पढ़नेवालों के दिलो मे चेतना का पूरा-पूरा भाव नहीं बिठा सकते। पर अपने अनुभव के आधार पर इतना जरूर कह सकते हैं कि हरएक आदमी हर रोज किसी-न-किसी समय यह जरूर जान लेता है कि वह चेतन है और उसमें चेतना है। खुलासा यह कि आदमी खुद ही चेतना का अनुभव कर सकता है। हमारा दुनिया से क्या संबंध है, यह हम अपने-आप ही तय कर सकते है, अपने-आप ही समझ सकते हैं, किसी दूसरे का तय किया हुआ हमारे गले नहीं उतर सकता। 'स्वाध्याय' की बात कहकर हम 'पराध्याय' को खतम कर देना चाहते हैं। आत्म-चेतना या आत्मतत्त्व चेतना तक

पहुँचने के लिए पराध्याय बेकार ही नहीं, नुकसान देनेवाला है। इन दोनों चेतनाओं को भारत के ऋषियों ने ज्ञान-चेतना नाम दिया है।

ऊपर हमने कहा है कि आदमी यह खुद ही जान सकता है कि कब उसकी चेतना जागी हुई है यानी कब वह आत्म-चेतना में है। इसका यह मतलब है कि कोई बाहरी परीक्षण इस बात को सिद्ध नहीं कर सकता कि किस आदमी में चेतना कब जागती है और कब वह आत्म-चेतना में होता है। यह बात भारत के ऋषि बहुत पहले से जानते थे और 'कुछेक' आज भी जानते हैं। जो नहीं जानते, वे यों नहीं जानते कि वह बुद्धि और मन की क्रियाओं को आत्म-चेतना समझने लगे हैं। जिस चेतना का हम गीत गाते हैं या जिस चेतना के आधार पर हम 'हम हैं' या 'मैं हूँ' कहते हैं, वह असल में आत्म-चेतना नहीं है, वह है उस अनुभव की याद, जो हमें कभी हुई थी। अब भी तो आये दिन आदमी को आत्म-चेतना का अनुभव होता रहता है। अनुभवों के कुछ क्षणों को छोड़ आदमी आत्म-चेतना की याद से काम चलाता रहता है। उदाहरण है तो अधूरा, पर शायद कुछ सहायता करे। बस, आत्म-चेतना के अनुभव को ऐसे समझना चाहिए, जैसे कोई आदमी खीर खाकर वमन कर डाले और उसके गले में उसका स्वाद बना रहने से वह यह कहता रहे कि मैंने खीर खायी है और वह मेरे पेट में है।

आत्म-चेतना का स्वरूप

आत्म-चेतना को आत्म-झाँकी का नाम दिया जा सकता है। उसे परमात्म-दर्शन भी कहा जा सकता है। पर बड़े-से-बड़ा सन्त जब परमात्मा के दर्शन की बात कहता है, तब कम ऐसा होता है कि वह परमात्म-दर्शन कर रहा हो। आम-तौर से वह परमात्म-दर्शन की याद की बात कर रहा होता है।

कहा तो यह जाता है कि चेतना आदमी में हमेशा रहती है, हर वक्त रहती है और यह बात सच भी है, पर ऐसी सचाई को मानकर हम क्या करें, जब उसका फल दिखाई न दे। हमें एक बात याद रहती है, दूसरी नहीं। इसके माने हुए, जो बात हमें याद है, उस वक्त हममें चेतना थी और जो बात याद नहीं

है, वह उस वक्त सुनी, जब हममें चेतना नहीं थी। हमारी याद हमें यह बताती है कि चेतना हममें दिनभर बनी रहते भी जागी हुई नहीं रहती।

जिसे हम 'सोयी चेतना' कहते हैं, उसे यूरोप के विद्वान् 'अचेतना' कहते हैं, यानी यह कि चेतना जैसी कोई चीज नहीं। वह सारा महत्त्व विचारों, मनोभावों और वेदनाओं को देते हैं। चेतना को अलग नहीं मानते। मन-मस्तक की क्रिया और चेतना को एकमेक कर देने से यह भ्रम उठ खड़ा हुआ है।

कुछ ऋषियों का कहना है कि इन्द्रियों से पाया ज्ञान परोक्षज्ञान होता है। आँख देखे, कान-सुने को हम प्रत्यक्ष ज्ञान नाम देते हैं, पर हमारे कुछ ऋषियों ने उसको व्यवहारी प्रत्यक्ष माना है। शुद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान वे उसीको कहते हैं। जो आत्म-चेतना को है। उस आत्म-चेतना के लिए 'ज्ञान होता है' ऐसा प्रयोग नहीं कर सकते। चेतना और बुद्धि का भेद उस वक्त तक बना ही रहेगा, जब तक स्वाध्याय की मदद से हम चेतना को न जगायें और आत्म-चेतना में रहना न सीखें।

शुद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान

क्या शुद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान आदमी को होता है? हाँ, होता है। अगर पढ़नेवालों को आत्म-झाँकी और परमात्म-दर्शन स्वीकार है, तो शुद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान होने से इनकार नहीं होना चाहिए।

विज्ञान की मदद से स्वाध्याय में लगे आदमी को छोड़कर मामूली-से-मामूली आदमी थोड़े-से परिश्रम से इतना अनुभव तो कर ही सकता है कि आत्म-झाँकी कितनी देर तक हो सकती है। कितनी बार हो सकती है और जोर की हो सकती है।

जिस आदमी से पूछिये, वह यही कहता मिलेगा कि मन लगाने बैठें तो जरा देर लगा। वह 'जरा देर' समय का कितना ही छोटा भाग क्यों न हो, पर है जरूर और यह हुई आत्म-झाँकी की मुद्दत।

किसीसे पूछिये, वह यह कह देगा कि वह दिन में कई बार मन लगाने की कोशिश करता है, पर कुछ क्षण ही लगा सकता है। यह हुई आत्म-झाँकी की हेरा-फेरी।

किसीसे पूछिये, वह यह कहेगा कि जब मैं मन लगाता हूँ, तो कभी-कभी बड़ी गुत्थी सुलझ जाती है। यह हुआ आत्म-झाँकी का प्रभाव।

यह मुद्दत, हेरा-फेरी और प्रभाव ही तो शुद्ध प्रत्यक्षज्ञान नाम पाते हैं। यही प्रमाण कहलाते हैं। प्रमाण के माने है, सच्चा ज्ञान। सच्चा ज्ञान आत्म-चेतना ही से मिलेगा। आत्म-चेतना स्वाध्याय से प्राप्त होगी।

स्वाध्याय की मेहनत का नतीजा यह होगा कि चेतना ज्यादा देर तक जगायी हुई रखी जा सकेगी। अभ्यास से यह भी संभव है कि वह निरंतर जागी हुई रखी जा सके।

चेतना की अवस्थाएँ

कुछ ऋषियों ने चेतना की तीन अवस्थाएँ मानी हैं। उनके नाम हैं. **कर्म-चेतना, कर्मफल-चेतना और ज्ञान-चेतना**। उनकी राय में कर्म-चेतना मिट्टी, पानी, आग, हवा, पेड़-पौधों में रहती है। कर्मफल-चेतना चलनेवाले छोटे-से-छोटे कीड़े से लेकर आदमी तक में रहती है। ज्ञान-चेतना के बारे में उनकी यह राय है कि वह जीवन-मुक्त में रहती है और उसके बाद हमेशा उस आत्मा के साथ बनी रहती है।

यहाँ हमें आदमी की चेतना का हाल जानना है। हम ऊपर की बात से मिलती-जुलती कहकर भी नये ढंग से कहेंगे, जो अलग-सी मालूम होगी। हमारा अनुभव, हो सकता है ऋषियो के अनुभव के मुकाबले में बहुत छोटा हो, पर वह ऐसा जरूर है, जो पढ़नेवालो के गले उतर सके, क्योंकि छोटे पैमाने पर उस तरह का अनुभव पढनेवालों में से हरएक को आये दिन होता रहता है।

आदमी चेतन है, किसी तरह से अचेतन नहीं। पर वह जब चेतन है, तब चेतनावाला होना चाहिए, किसीको इस बात से क्यों इनकार हो कि आदमी हर वक्त चेतनावाला है? हम भी, जब चेतना से खाली बताते हैं, तब उस चेतना से नहीं, जिसकी वजह से आदमी चेतन कहलाता है। यह चेतनावाला आदमी जब सोता है, तब उसमें उस तरह की चेतना नहीं रहती, जो जागते वक्त रहती है। जब वह जागता है, तब उसमे वह चेतना नहीं रहती, जो उस वक्त रहती है, जब वह किसी बात को ध्यान से सुनता है। हमारे पढ़नेवालों में से किसके सामने ऐसा

अवसर न आया होगा, जब उसने यह न कहा हो कि मैंने आपकी बात सुनी तो, पर याद बिलकुल नहीं रही, क्योंकि ध्यान से नहीं सुनी थी। यहाँ यह शंका करना बेकार है कि जिस वक्त वह किसीकी बात सुन रहा था, तब उसका ध्यान दूसरी तरफ था यानी उसकी चेतना दूसरा काम कर रही थी, क्योंकि ऐसा कहने से उसके लिए क्या कहा जायगा, जो एक काम में लगा हुआ था और दूसरे की दूसरी बात को इतने ध्यान से सुन रहा था, जिस तरह वह अपना काम कर रहा था। इसलिए हमको चेतना के नये नाम रखने ही होंगे। वह नाम हो सकते हैं : **सोयी चेतना, जाग चेतना, अपनी चेतना और अपनेपन की चेतना।**

सोयी चेतना और जाग चेतना

आदमी आम तौर से दो अवस्था में पाया जाता है—सोता हुआ या जागता। संतों के सारे उपदेश जागे हुए आदमी के लिए हैं, और उस जागे हुए के लिए, जिसके लिए इस गीत की कल्पना की गयी है :

उठ जाग मुसाफिर, भोर भई
अब रैन कहाँ जो सोवत है।

यह राग साफ बतला रही है कि आदमी जागता हुआ भी सोता रहता है। संत आदमियों को जगाकर यही तो कहना चाहते हैं कि वे अपनी चेतना में आयें। इससे यह साफ जाहिर है कि आदमी अपनी चेतना मे बहुत कम रहता है। इस अपनी चेतना को 'आत्म-चेतना' भी नाम दिया जा सकता है। यह आत्म चेतना 'ज्ञान-चेतना' के दो अगों में से एक अग है। इसका दूसरा अंग है 'आत्म-तत्त्व-चेतना'। आत्म-तत्त्व-चेतना क्या है, इसका जिक्र हम आगे कहीं करेंगे। पर यहाँ इतना ही कह देते हैं कि आत्म-तत्त्व-चेतना मे पहुँचना आदमी का आदर्श है। उस तक शायद ही कोई पहुँचता है। दुनिया के बड़े-से-बड़े काम आत्म-चेतना की मदद से हो सकते है।

हाँ, तो हम आम तौर से सोयी और जाग चेतना में रहते हैं। जब हम सोते है, तो दूसरे ही नहीं, हम भी समझते हैं कि हम आधे मरे हुए है। यह ठीक है कि आदमी जैसी बेहोशी की नींद सोता है, वैसी बेहोशी की नींद शायद

ही कोई पशु-पक्षी सोता हो। बेहोशी की नींद में भी आदमी अपनी चेतना नहीं खोता, क्योंकि चेतना के बगैर हमारी कोई भी इन्द्रिय तनिक भी काम नही कर सकती और सोते वक्त तो हम सपने देखते रहते हैं यानी हमारा मन काम करता रहता है। हमारी राय में हमारी सब इन्द्रियाँ सपनो में इसी तरह काम करती हैं, जिस तरह जागते वक्त। पर हमारी यह नींद-चेतना इतनी कम चेतना है कि सपना हमें पूरा-का-पूरा तो याद नही रह सकता और जितना याद रहता है, उतना भी ठीक-ठीक याद नहीं रहता। तब ऐसी 'नींद-चेतना' को चेतना कहने से फायदा क्या?

'नींद-चेतना' के वक्त हमारी उन्नति तो होती है, पर उस तरह की उन्नति तो पेड़-पौधे भी करते रहते हैं और हम खुद भी उस वक्त कर रहे थे, जब माँ के पेट में थे। माँ के पेट मे हम जिस तेजी से बढ़ रहे थे, उतनी तेजी से पैदा होकर, जाग-चेतना पाकर नहीं बढ़ रहे। इससे यह नतीजा निकला कि जब-जब देह की बढ़वारी होती है, तब-तब हम आत्म-चेतना से बहुत दूर रहते है। हम जिसको बढवारी नाम देते हैं या जिसको उन्नति कहकर पुकारते हैं, वह है हमारे गुणों की उन्नति और गुणों की उन्नति उस वक्त नहीं होती, जब हम सोये हुए होते हैं। नींद में देखे हुए डरावने सपने जब किसी कारण से हमे याद रह जाते हैं, तब जागने पर हमें ऐसे ही दुख देते हैं, मानो अभी हम सपने की तरह उसी डर में फँसे हुए है। इससे यह सिद्ध होता है कि नींद-चेतना में हमारी देह की बढवारी जाग-चेतना से भले ही ज्यादा हो, पर हमारे गुणो की बढवारी बिलकुल नहीं होती, कभी-कभी और घटवारी ही हो जाती है।

संयम ही स्वाध्याय है

गीताकार ने लिखा है कि जो सब लोगों के लिए रात होती है, वही संयमी के लिए दिन होता है। सयमी शब्द लिखकर गीताकार ने मामले को बिलकुल साफ कर दिया है। सयम का ही दूसरा नाम स्वाध्याय है। संयम के लिए आज-कल बोलचाल का लफ्ज 'कंट्रोल' काम में लाया जा सकता है। यह दूसरी बात है कि आज कंट्रोल का काम सरकार के हाथ में है, इसलिए हर आदमी अपने

लिए कट्रोल की बात नहीं सोचता। पर अगर वह 'स्वाध्याय' में लग जाय, तो उसे कुछ ही दिनों में अपनी इन्द्रियों पर कट्रोल करना आ जायगा, यानी वह सयमी बन जायगा। अब सयम के माने हुए, आत्मचेतना में दाखिल होना। गीताकार संयमी को जागता हुआ कहता है और जागते हुए असंयमी को सोता हुआ मानता है। उसे सोया हुआ न कहें तो क्या कहें, जो न अपने गुणों की बढ़वारी करता है, न मझाई, न जानकारी, न जानकारी हासिल करने की कोशिश। नींद-चेतना और जाग-चेतना, दोनों मे ही आदमी पेड़-पौधों और पशु-पक्षियो की तरह लम्बा-चौडा और मोटा तो होता रहता है, पर गुणों में जरा तरक्की नहीं कर पाता। नींद-चेतना में तरक्की की एक खिडकी खुली तो रहती है, पर उस खिडकी का उपयोग आदमी बहुत कम करता है। वह खिडकी है यह कि कभी-कभी किसी-किसीको नींद में यह ध्यान हो आता है कि वह सो रहा है और सपने देख रहा है और यह कि सपनों से उसके दिल का कुछ बनता-बिगडता नहीं है। नींद-चेतना की इस खिडकी से हमेशा उस वक्त काम लिया जाता है, जब आदमी नींद-चेतना से जाग-चेतना में कदम रखने को होता है। आदमी को वही सपने याद रहते हैं, जो उसने जाग-चेतना मे आने से जरा पहले देखे होते हैं।

नींद-चेतना आदमी के लिए उन्नति के खयाल से यानी णों की उन्नति के खयाल से एकदम बेकार चीज है। आइये, अब जाग-चेतना की परीक्षा करें।

चेतनाओं का विकास-क्रम

यह ऊपर कहा जा चुका है कि ऋषियों ने और आम आदमियों मे से समझदारों ने इन जागे हुए आदमियों को सोता हुआ माना है और इस जागे हुए को जगाने की आत्म-चेतना में रहनेवालो ने ऐसी ही कोशिश की है जैसे सोते हुए को जगाने के लिए की जाती है। नींद-चेतना से जाग-चेतना में लाना बहुत आसान है—थोडे बदन हिलाने से काम चल सकता है। कभी-कभी नींद-चेतना में आदमी अपने-आप भी अपने किसी अग को झटका देकर जाग-चेतना मे आ जाता है, पर जाग-चेतना से आत्म-चेतना में लाना असम्भव नहीं तो

बहुत मुश्किल जरूर है। हाँ, जाग-चेतना से आत्म-तत्त्व-चेतना में लाना एकदम असम्भव है।

जाग-चेतना से आत्म-चेतना में लाना इसलिए मुश्किल है कि भाषा में जागने से आगे की हालत के लिए कोई शब्द नहीं है। अब जागे हुए आदमी से यह कहना कि 'तू जाग जा' कितनी बेतुकी बात होगी। जागा हुआ आदमी जागने की बात सुनकर सुनी-अनसुनी कर देगा। इतना ही नहीं, वह तो जगानेवाले को सोया हुआ समझेगा। यही वजह है कि दुनिया में सैकड़ों आत्म-चेतनावाले और दसियों आत्म-तत्त्व-चेतनावाले पैदा करने के बावजूद मानव-समाज नहीं जगाया जा सका, आत्म-चेतना में नहीं लाया जा सका।

सभा में बैठे हुए आदमी जब ऊँघने लगते हैं, तब कभी-कभी सभा का वक्ता उनसे कह बैठता है कि 'जरा चैतन्य हो जाओ।' यह 'चैतन्य' शब्द जगाने के बाद की हालत का हो तो सकता है, पर काम में कम आने की वजह से इसको वह महत्त्व नहीं मिल पाया, जो जागने को मिला हुआ है। सभा में भी 'चैतन्य' शब्द से उस वक्त काम किया जाता है, जब बहुत से आदमी जाग-चेतना से नींद-चेतना की ओर ढुलक रहे होते हैं। हाँ, यही 'चैतन्य' शब्द जब कोई सेनापति उस वक्त अपनी फौजों के सामने काम में लाता है, जिस वक्त दुश्मन सिर पर आ टूटा हो, तब एक पल या उससे भी थोडी देर के लिए सारी फौज जाग-चेतना से आत्म-चेतना में दाखिल हो जाती है और बस, दूसरे क्षण ही वह फिर जागचेतना में चली जाती है और जानवरों की तरह लडने लगती है। अगर फौज में मिनट-दो मिनट भी आत्म-चेतना में रहने की योग्यता आ जाय, तो दसियों लडाइयाँ, शायद सैकड़ों लडाइयाँ लडी ही न जायँ और यों ही जीत ली जायँ। पर हमारी यह आशा तो कोरी कल्पना है। मिनट दो मिनट आत्म-चेतना में रहने के लिए महीनों का स्वाध्याय जरूरी है और जो लडाई के वक्त होना असम्भव है।

जाग-चेतना की भलाइयाँ

जाग-चेतना में भी नींद-चेतना की तरह उन्नति के लिए एक बहुत सँकरा रास्ता है, जिस ओर जाने की आदमी अपने-आप शायद कभी नहीं सोचता। जब

भी सोचता है, तब दूसरों की फटकार या उपदेश से बड़ी आफत में फँस जाने से या स्वाभिमान को जोर का धक्का लगने से। जागचेतना में एक बड़ी भारी भलाई है, वह यह कि नींद-चेतना के बारे में आदमी का यह खयाल हो जाता है कि नींद नाम की कोई चेतना ही नहीं है। सोने को वह मरना समझने लगता है, नींद को बुरी निगाह से देखने लगता है और ऐसा भी सबके साथ नहीं होता। हाँ, बहुतों के साथ होता है। जाग-चेतना नींद-चेतना को नींद-चेतना न कहकर, अपने आपको नीचे ढुलकने से बहुत कुछ रोक लेती है, क्योंकि कोई चेतन अपने को न अचेतन बनाना पसद करता है, न अचेतन कहलाना।

जाग-चेतना में दूसरी भलाई यह है कि वह अपनी उन्नति की खिड़की से काम न भी ले, तब भी उसे कभी-कभी आत्म-चेतना की दो-एक किरणें मिलती रहती हैं और वह उन किरणों के आधार पर कभी-कभी यह समझने लगता है कि वह जागा हुआ भी सो रहा है। इस ज्ञान के दो नतीजे होते हैं। एक यह कि आदमी दुनिया की मुसीबतों को ऐसे ही हँसी-खुशी झेल लेता है, जैसे सपने में उन्हें वह यह जानकर झेल लेता था कि वह सपना देख रहा है। दूसरा यह कि आदमी यह जान लेता है कि आत्म-चेतना नाम की एक चेतना है और उस चेतना में दाखिल होकर ही वह आगे बढ़ सकेगा और सच्चे मानों में जाग सकेगा। पर आत्म-चेतना की इस तरह की ज्ञान करानेवाली किरणें कभी-कभी क्षणभर के लिए आती हैं और फिर चली जाती है और फिर आदमी जागचेतना नाम की कोठरी में आँख बद किये हुए खर्राटे लेता दुनिया के कामों में ऐसे ही लगा रहता है, जैसे नींद की दुनिया में लगा हुआ था।

जाग-चेतना में आत्म-चेतना की झाँकी होती रहती है, यह बात हमारे पढ़ने-वालों में से सबने मान ली होगी और अगर हमारे पढनेवाले हमारे सामने होते, तो सम्भव है उनमें से हरएक अपनी-अपनी आत्म-चेतना की झाँकी की कहानी सुनाना शुरू कर देता।

ज्ञान-चेतना ही असली चेतना

सबके सब आदमी दो चेतना में रहते हैं। स्वाध्याय आगे बढ़ने की खातिर

हमें इन चेतनाओं से चेतना-गुण छीन लेना ठीक रहेगा। हम यह पहले कह चुके हैं कि जाग-चेतनावाला नींद-चेतना से चेतना-गुण छीन लेता है और नींद को फिर नगी नींद बना देता है और उसकी तुलना मौत से करने लगता है। ठीक इसी तरह आत्म-चेतना में रहनेवाला आदमी नींद-चेतना और जाग-चेतना, दोनों से चेतना-रूपी साड़ियाँ छीन लेता है और दोनों को नंगी बना देता है। नींद को मौत समझने लगता है और जाग को नींद का नाम दे देता है। हम भी अब से आगे नींद और जाग को अवस्था नाम से पुकारेंगे या हालत कहकर बोल लेंगे और आत्म-चेतना और आत्म-तत्त्व चेतना को ही चेतना नाम देंगे। वास्तव में वह है ही चेतना। ज्ञान-चेतना ही चेतना है। ज्ञान को जब अपना ज्ञान भी न हो, तो वह चेतन कैसा! चेतनता नाम ही है ज्ञान के गुण का कार्यरूप में होना। ज्ञाता अपना ज्ञान किये बगैर किसी ज्ञेय को जान ही नहीं सकता। असल में वह किसी ज्ञेय को जानता ही नहीं। ज्ञाता खुद एक ज्ञेय है और वह ऐसा ज्ञेय है, जैसे दुनिया के और सब ज्ञेय हैं। इसलिए जब ज्ञाता अपने को जान लेता है, तब सब ज्ञेय जान लेता है। अभी इन गहराइयों को छोड़िये। यह है स्वाध्याय की आखिरी दौड़, इससे अभी हमें क्या लेना-देना? इस वक्त तो हमें इतनी बात जाननी है कि नींद और जाग चेतना नहीं हैं, ये आदमी की दो अवस्थाएँ हैं, दो हालतें हैं। इन दोनों के बीच आदमी पैदा होने से मौत तक झूलता रहता है। माँ के पेट में सिर्फ एक ही हालत होती है यानी नींद, इसी वास्ते जन्म को जागने का नाम दिया है और सचमुच पैदा होने के बाद ही बच्चा आँख खोलता है। आदमी अब या तो सोता रहता है या जागता रहता है। उसका जागना भी एक तरह का सोना ही है। माँ के पेट से बाहर आकर बच्चा क्या जागा, बस सोना, रोना और खाना। जितना वह माँ के पेट में बढ़ रहा था, उससे कम बढ़वारी। ठीक इसी तरह जागने की हालत में नींद से कम बढ़वारी और आफतें सिर पर भारी-भारी।

मुसलमान हज तो ५-७ दिन करता है, पर हाजी अपने-आपको उमर भर समझता है। तहसीलदार तहसीलदारी छोड़कर भी तहसीलदार कहलाता रहता है

और अपने को समझता भी रहता है। यही हाल आदमी का है। वह आत्म-चेतना में कभी क्षणभर के लिए आता है, पर दिनभर अपने-आपको आत्मचैतन्य में समझता रहता है। इस जरा-सी देर की चेतनता के नाते उसे चेतन समझने का हक होना ही चाहिए, जैसे हाजी और तहसीलदार को हाजीपन और तहसीलदारी का हक हासिल है। सरसरी नजर डालने से आदमी अगर अपने-आपको चेतन कहे, तो कोई बुराई नहीं। बुराई सिर्फ यह है कि वह वे काम नहीं करता, जो चेतन को करने चाहिए। हाजी नाम का हाजी, तहसीलदार नाम का तहसीलदार! उन नामों से वे न अपने को फायदा पहुँचाते हैं, न दूसरों को। और दूसरे उन्हें बस नाम के हाजी और तहसीलदार समझते हैं। ठीक इसी तरह यह अचेतन बना आदमी अपने-आपको चेतन समझकर खुद टोटे में रहता है, किसीका भला नहीं कर पाता। उल्टा चेतनता को बदनाम कराता है। स्वाध्याय के जरिये उसे यह ज्ञान हो जायेगा कि वह कब-कब चेतन है और कब-कब नाम का चेतन।

आदर्श तक पहुँचना यानी जड़ बन जाना

अगर आदमी आत्म-चेतना में चार-पाँच मिनट भी रहना सीख ले, तो उस खिड़की का ज्ञान हो जाय, जिससे आत्म-तत्त्व-चेतना की रोशनी आती है। आत्म-चेतना आदमी को आत्म-तत्त्व-चेतना की किरणें तो मिलाती रहती हैं, पर यह कि उसे यह किरणें मिल रही हैं, इस बात का ज्ञान उसे बहुत बाद में होता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि उसे परमात्मा का दर्शन हो रहा है और उसे नहीं मालूम कि उसे दर्शन हो रहा है। परमात्म-दर्शन के बारे में दुनिया में जितना असत्य बोला जाता है, उतना शायद और विषय में नहीं। यह कहकर हम यह कहना चाहते हैं कि आत्मतत्त्व-चेतना यानी परमात्मदर्शन या ईश्वर में निवास, यह आदमी का आदर्श है और आदर्श हम उसको मानते हैं, जिस तक कभी नहीं पहुँचा जा सकता। आदर्श तक पहुँचना यानी उन्नति करना छोड़ देना या दूसरे शब्दों में जड़ बन जाना या पंडिताऊ भाषा में 'कूटस्थ' अवस्था को प्राप्त हो जाना।

आत्म-चेतना में, अभ्यास से, आदमी बहुत देर तक ठहर सकता है और फिर

उसे अपने आप आत्मतत्त्व-चेतन अवस्था का ज्ञान होने लगता है या यों कहिये कि भान होने लगता है। बस भान, इससे ज्यादा नही।

आत्म-चेतना की किरणों का जादू

आत्म-चेतनता में, हम यह पहले ही कह चुके हैं, आदमी थोडी देर रहता है। ज्यादा देर तो वह जाग-अवस्था में रहता है। हाँ, अभ्यास से इतना जरूर होता है कि आत्म-चेतना की किरणें दिल में कई बार आने लगती हैं और कभी-कभी सेकड-दो सेकंड तक बराबर आती रहती हैं। यही वे हालतें हैं, जिन्हें आदमी ने 'इलहाम' नाम दे रखा है, 'ईश्वर-दर्शन' नाम दे रखा है, 'ब्रह्म की छाया' कह रखा है और न जाने क्या-क्या कह रखा है। आदमी का ऐसा कहना ठीक ही है। जब जॉर्ज स्टीफन्सन ने धुँआ-गाडी के इजन के बारे में यह बात कही थी कि उसका इजन एक घटे में १५ मील चलेगा यानी मामूली घोडे से दूनी चाल, तो सुननेवालो ने उसकी हँसी उड़ाते हुए यह वाक्य मुँह से निकाले थे—'तो अब आप हमको बाण पर बैठाकर उडाना चाहते है।' उन्होंने ठीक ही कहा। उनके लिए १५ मील चलनेवाला इजन अनोखी चीज थी। इसलिए आदमी भी अगर आत्मतत्त्व-चेतना की किरण को ईश्वर-दर्शन मानने लगे, तो उसने भूल ही क्या की! सचमुच उस एक जरा-सी किरण के आते ही आदमी के ज्ञान के कपाट खुल जाते है और आत्म-चेतना कुछ सेकंड टिककर ऐसे-ऐसे भेद खोल जाती है, जो आदमी जाग-हालत में आकर यह समझ ही नहीं पाता कि वह खुद कभी इस तरह के भेद जान सकता है या ऐसी बढ़िया बात कह सकता है। तभी तो मुहम्मद साहब को अपनी बीबी खदीजा से यह कहना पडा था कि ऐसी बात मुझे सूझ कैसे गयी और तब खदीजा को यही कहना पडा कि कुछ नहीं, तुम पैगम्बर हो गये हो और यह तुम्हारी सूझ नहीं, ईश्वर की सूझ है। आत्म-चेतना में रहने से सबसे बडा फायदा यही होता है कि आत्म-चेतना यानी ज्ञान-चेतना यानी सत्य यानी परमात्मा का विश्वास हो जाता है। विश्वास और वह भी सच्चा विश्वास कितना बल देनेवाला होता है, इसका अदाजा नहीं लगाया जा सकता। जिसे वह विश्वास हो, उसका क्या

कहना ! अन्धविश्वास की ताकत कुछ कम नहीं होती, फिर सत्यविश्वास की ताकत कितनी होगी, इसे पढनेवाले खूब सोच सकते हैं। आत्म-चेतना का यह कितना जबरदस्त फायदा है और यह आत्म-चेतना स्वाध्याय के रास्ते चलकर आसानी से हासिल की जा सकती है।

आत्म-चेतना के लाभ

आत्म-चेतना के चमत्कार हर आदमी में होते रहते हैं और जब-जब वे चमत्कार होते हैं, तब-तब उसे बडा लाभ होता है। उसे जो लाभ उस आत्म-चेतना से होता है, उसे वह यह समझता है कि वह उसे मस्तक या बुद्धि से हुआ है और यही धोखा है, और इसी धोखे को दूर करने के लिए स्वाध्याय है। बुद्धि कोई चीज नहीं है, ऐसा हम नहीं कहते, वह बडे काम की चीज है और बुद्धि से ऐसे-ऐसे चमत्कार किये जा सकते हैं, जो शायद आत्म-चेतना और आत्मतत्त्व-चेतना से भी न हो सकें।

आइये, जरा अब इस बात को समझ लें।

आदमी ने जो पहिया बनाया, चीजों को लुढ़काकर ले जाने की बात सोची, यह आत्मचेतना की देन है। आगे जो गाड़ियाँ बनीं, वह बुद्धि की देन हैं। पुरानी बात छोडकर अब हम एकदम नयी पर आते हैं। रेडियो के आविष्कार को लीजिये। मारकोनी जब बेतारवाले तार का परीक्षण कर रहा था, तो इस परीक्षण की तह में यह बात थी कि उसने बिजली की चिनगारी को हवा में कूद-कर एक चीज से दूसरी चीज तक पहुँचते अपनी आँखों देखा था। यह देखना भी आत्म-चेतना का काम न था। आत्म-चेतना का सिर्फ इतना काम था कि वह यह सुझा दे कि इससे बेतार का तार बन सकता है। आगे जितना काम हुआ, वह सब बुद्धि का है। इसे हम और साफ करेंगे। आज ऐसे वैज्ञानिक मौजूद हैं, जो रेडियो बना लेते है और रेडियो उनके मस्तक की सूझ है। रेडियो काम यह करता है कि उसकी मदद से आदमी हजारों मील की बात एक जगह बैठा सुन सकता है। हर जगह की बात सुनने के लिए, उसे सूई को ठीक जगह लाने के लिए, जरा खूँटी मरोड़नी पडती है। आज के रेडियो को बिजली की जरूरत

होती है। हीरे के रवे यदि काम में लिएजायँ, तो खास-खास लहरों (ध्वनि-तरगों) को पकडने के लिए बिजली की भी जरूरत नहीं रह जाती। यह सब बातें हम इसलिए कह रहे हैं कि छोटे पैमाने पर यह सब हमारे मस्तक में हो रहा है। हम दस आदमियों में से, जो सब एक साथ बोल रहे हों, उसीकी सुन सकते हैं, जिसकी हम सुनना चाहें। इस काम के लिए हमें अपने ध्यान को लगाना होगा यानी चित्त को एकाग्र करना होगा। यह काम आत्म-चेतना की मदद से ही हो सकता है। यहाँ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जितनी देर हम ध्यान लगाये रहेंगे, उतनी देर हम आत्मचेतना मे रहेंगे। आत्म-चेतना तो खूँटी मरोडकर तुम्हारे दिमाग की सूई उस जगह लगाकर चल देगी, जहाँ से तुम उसको सुन सको, जिसको सुनना चाहते हो। आगे का सब काम बुद्धि करती रहेगी। हाँ, उस सुने हुए में से जितना तुम्हें ज्यों का त्यों और ठीक-ठीक याद रहे, वह सब आत्मचेतना का काम है और अगर भाव भर याद रहे, तो वह आत्म-चेतना की शिष्या, बुद्धि का काम है।

रेडियो के बारे में एक बात और समझ लेनी चाहिए। रेडियो बहुत कम अंश में आत्म-चेतना की देन और बहुत ज्यादा अंशों में मस्तक और बुद्धि की देन है। पर मस्तक और बुद्धि, जिन्होंने रेडियो तैयार किया, खुद रेडियो का काम नहीं कर सकते यानी अपने-आप हजारों मील की खबर नहीं सुन सकते। ठीक इसी तरह आत्म-चेतना मस्तक और बुद्धि तथा हाथ-पैर का काम नहीं कर सकती और जिस तरह बिना मस्तक और बुद्धि के हाथ-पैर जागे हुए भी सोये जैसे हैं, वैसे ही आत्म चेतना के बगैर हमारे मस्तक और बुद्धि जागे हुए भी सोये जैसे है।

'होना' और 'करना' का भेद

हम सोते हुए भी खाना हजम कर लेते है, खून को सारे बदन में घुमाते रहते है, हँस-रो लेते हैं। थोडे-बहुत हाथ-पाँव भी हिला लेते हैं और मस्तक-बुद्धि की जरूरत नहीं पडती। ठीक इसी तरह हम जागते हुए मस्तक और बुद्धि से सारा काम कर लेते हैं और वही मस्तक और बुद्धि हुक्म देकर हमारे हाथ-पाँव से खूब काम ले लेती है। मस्तक और बुद्धि के इन सब कामो में आत्मचेतना की

कोई जरूरत नही पडती, क्योंकि आत्मचेतना ने मस्तक और बुद्धि को अपने-अपने काम का इस तरह अभ्यासी बना रखा है, जिस तरह मस्तक और बुद्धि ने देह के उन अङ्गो को अपने-अपने काम का अभ्यासी बना रखा है, जो नींद की अवस्था से मस्तक और बुद्धि की मदद के बिना अपना-अपना काम कर लेते हैं।

जागने की हालत मे काम होते हैं, आदमी उनको करता नहीं। आदमी जब जो कुछ करता है, वह आत्म-चेतना की हालत में करता है, नहीं तो काम होता है।

क्या ऐसा हो सकता है कि हम अपनी मर्जी के माफिक जितनी देर चाहे आत्म-चेतना में रह सकें? या जब चाहे, कुछ सेकड के लिए ही सही, आत्म-चेतना में दाखिल हो सकें? इसी बात को यो भी कहा जा सकता है, क्या यह सम्भव है कि हम जब चाहें चैतन्य हो जायँ? हाँ, यह सम्भव है और इसीके लिए तो स्वाध्याय है। आदमी कोरा परिस्थितियो का बना नहीं है, अगर वह ९९ फी सदी परिस्थितियों का दास है, तो १ फी सदी जरूर आजाद है। यह जरा-सी आजादी, उस बडी दासता को जीते जी चाहे पूरी न मिटा सके, पर सबकी सब दासता पर वह इतना अधिकार जरूर जमा सकती है कि दासता खुद उसकी दास बनकर रहना स्वीकार कर ले।

अपने आपको पहचानने की हिम्मत

ठीक ढग से और ठीक-ठीक कोशिश करने पर क्या नहीं हो सकता? चेतना पर भी काबू पाया जा सकता है और अपने ज्ञान की भी जानकारी की जा सकती है। मुश्किल बस यही है कि हम इतनी हिम्मत ही नहीं कर पाते कि अपने-आपको पहचानने मे लगें। हमें दूसरो को पहचानने की बेहद चाट पड़ गयी है और आजकल की सारी तालीम हमारी उस चाट मे सहायक हो गयी है। इसलिए हम अपने अध्ययन की बात सोचते ही नहीं। अपने को जानना और पहचानना सच्चा मनोविज्ञान है। उसीसे हममे वे गुण पैदा होंगे, जिनको हमने समझ रखा है कि हममें पहले से मौजूद हैं। हम यह क्यो नहीं सोचते कि अगर वे गुण हममें मौजूद होते, तो दुनिया इतनी दुखी क्यो होती कि जितनी आज है।

आत्म-चेतना की राह में रुकावटें

आत्म-चेतना की ओर कदम उठाने से पहले हमें यह सोच लेना पड़ेगा कि आखिर वह है कौन, जो हमें उस ओर जाने से रोके हुए है ?

पहली रुकावट है हमारा अज्ञान। अज्ञान की रुकावट आसानी से दूर की जा सकती है और उसकी तरकीब यह है कि पहले हम यह मानें कि हम अपने बारे में एकदम अज्ञानी हैं। ऐसा मानना बुरी बात नहीं है। यह सुनकर किसी को घबड़ाना नहीं चाहिए। पेचीदा-से-पेचीदा मशीन बनानेवाला और ज्ञानी कहलानेवाला छोटी-सी जिलेबी बनाने में अज्ञानी हो सकता है और उसे उस विषय में अज्ञानी मानने में कोई इनकार नहीं होना चाहिए। अज्ञानी मानना आदमी की शान है, न कि अपमान। स्वाध्याय के सिलसिले में आत्म-चेतना के रास्ते पर चलने के लिए अगर हमसे कोई यह कहे कि हम इस बात में बिलकुल अज्ञान हैं कि हम खुद क्या चीज हैं, तो हमें अज्ञानी मानने में इनकारी क्यों ? और जरा ध्यान से देखें, तो सचमुच हम अपने बारे में तो क्या, अपनी उस देह की बनावट को, जिसको हम अपनी समझते हैं, ठीक-ठीक नहीं समझ रहे हैं। हमें अपनी देह के किसी एक अंग का भी ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है। बुद्धि और स्मृति की तो बात ही क्या ? इन बुद्धि और स्मृति की पुरानी चेतना तक तो हमारी पहुँच ही नहीं और वही चेतना तो हम हैं, उसीके बल पर तो हम चेतन कहलाते हैं। फिर अज्ञानी मानकर अज्ञान की रुकावट को क्यों न उठाकर फेंक दें और अपने-आपको पहचानने में जुट जायँ ?

दूसरी रुकावट यह है कि जिसे हम जानना चाहते हैं, वह हमसे अलग कोई चीज नहीं और बचपन से ही नहीं, पीढ़ियों से हमें यह आदत रही है कि हम जो कुछ सीखते या जानते हैं, उसीको सीखते या जानते हैं जो हमसे बाहर है, दूर है। कितनी अनोखी बात है कि दिल्ली युनिवर्सिटी का विद्यार्थी यह नहीं बता सकता कि रामपुरा कहाँ है। पर यह बता सकता है कि लंदन कहाँ है, न्यूयार्क कहाँ है। रामपुरा दिल्ली में लगा हुआ गाँव है और लंदन, न्यूयार्क समुद्रपार है। छोटे-से-छोटे बच्चे को माँ गोद में लेकर पहले चन्दामामा का पाठ पढ़ाती है, मुँह धोना पीछे सिखाती है। बाहर से पाठ सीखने की आदत पुरानी है,

हमेशा की है और अकेली है। इसलिए अन्दर के पाठ की बात न जी को रुचती है और न उस ओर ध्यान जाता है। यह रुकावट कुछ कम रुकावट नहीं है। जिस आदमी को मन मारना आता है, वह इस रुकावट को जल्दी दूर कर लेगा और जिसे मन मारना नहीं आता, वह उस रुकावट को महा रुकावट बना लेगा।

तीसरी रुकावट इस रास्ते में यह है कि हमें अध्ययन तो करना है अपने मन और मस्तक का और अध्ययन करना है इस तरह, जैसे आम को मेज पर रखकर, चीर-चीरकर, उसके रस, गूदे, गुठली और मींजी जाँची जाती है। यह कौन कम मुश्किल काम है? मुर्दे के मन-मस्तक को मेज पर रखकर जाँचा जा सकता है, पर आत्म-चेतना के स्कूल मे मुर्दे के मन-मस्तक की किताब को कोई स्थान नहीं। आत्म-चेतना के स्कूल में जिस मन-मस्तक को पढ़ना है, वह दूसरे आदमी का नहीं, खुद अपना होना चाहिए। हो सकता है, कोई ऐसा हिम्मतवाला निकल आये कि अपना दिल निकालकर मेज पर रख ले और पढ़ने लगे, क्योंकि आज का विज्ञान नकली दिल बना चुका है और असली दिल निकालकर बाहर रख सकता है। पर आत्म-चेतना के स्कूल में जिस मन का अध्ययन करना है, वह वह है, जो सारी देह मे फैला हुआ है। उसके मस्तक का भी यही हाल है। वह भी खोपडी के भेजे में न रहकर सारी देह में फैला हुआ है। अब इस मुश्किल का अन्दाजा लगाइये कि मन-मस्तक को मेज पर रखी हुई चीज की तरह तो पढ़ना है, पर मेज पर वह आ नहीं सकती। इस मुश्किल का हल है। हमारे बाप-दादे, हमारे ऋषि-मुनि, इस मुश्किल को आसान बना गये है। इसके लिए इनकी-उनकी किताबें पढ़ने की जरूरत नहीं है, जितनी स्वाध्याय की, जितनी आत्म-चिंतन की, जितनी आत्म-पठन की और जितनी चित्त-निरोध की।

आइये, अब हमारे साथ बाहर से अन्धे बनकर आइये—यानी आत्म-चिंतन की राह पर चलने के लिए अन्दर से सूझते बनकर आइये। बाहर जो अन्धा है, वही अन्दर सूझता है। संयमी को जो दिन, असयमी को वही रात है। अब आप अपने दोस्तों और रिश्तेदारों और दुनियादारों के लिए अन्धे है और अपने लिए सूझते और चार आँखवाले है।

बुद्धि-मन-स्वभाव-गति आदि पुर्जे

आदमी की मशीन का पहला पुर्जा है विचारक यानी विचार करनेवाला। इसीको लोगों ने 'बुद्धि' नाम दे रखा है।

दूसरा पुर्जा है भावुक यानी तरह-तरह के भाव पैदा करनेवाला। कोई इसको **मन** कहता है और कोई कुछ। आप नामों पर न जाइये। आपकी आँखें खुली हैं, देख लीजिये और समझ लीजिये।

तीसरा पुर्जा है **स्वभाव**। यह बेहद चपल है। निरन्तर बडी तेजी से काम करता है। यह प्राणीमात्र में है।

चौथा पुर्जा है **गति**। इस पुर्जे के चमत्कार आदमी अपने-आप देख सकता है। दूसरे भी उसे देख सकते हैं। और, हम दूसरे के चमत्कार देख सकते है।

इस मशीन के पुर्जे तो अनगिनत है, पर सात-आठ काम के पुर्जों को समझ लेने से आगे का काम आसान हो जायगा और वह अपने-आप समझ में आते जायेंगे।

यह याद रहे कि ऊपर दो बड़े मार्के के पुर्जे जान बूझकर छोड दिये गये हैं। क्योंकि वे समझने में इन सबसे ज्यादा मुश्किल हैं। उनका नाम है **ज्ञान** और **दर्शन**। उनको आप ऊँचे दर्जे की बुद्धि या विचारशक्ति और ऊँचे दर्जे के भाव नाम से समझ सकते हैं। बुद्धि की क्रिया को हम विचार नाम देते है। आत्म-चेतना की क्रिया को हम ज्ञान नाम देते हैं। मन की क्रिया को हम भाव कहते हैं और उसी तरह की आत्मचेतना की क्रिया को हम दर्शन नाम देते हैं। यह नाम ही नाम है। आपको नाम से कम काम होना चाहिए, समझने से ज्यादा।

हर धर्मवालो ने इस मामले मे कुछ-न-कुछ जरूर लिखा है। जो भी महापुरुष आत्मचेतना में प्रवेश करते ही कुछ जानने की कोशिश करता है, कुछ ही दूर चलकर उसका अनुभव बिलकुल उससे मेल खा जाता है, जो उससे पहले के महापुरुषों को हुआ होता है। दो महापुरुषों के अनुभव एक से होंगे। पर उनके चेलों की लिखी किताबों में नाम अलग-अलग मिलेंगे। इसीलिए हम कह रहे हैं कि नामों की चिंता न करके नामों से ऊपर उठकर हमें आगे

बढते रहना चाहिए और अपना अनुभव अपने-आप ही हासिल करना चाहिए।

जिस स्वाध्याय की बात हम कह रहे थे, अब वह शुरू हो गयी है। वह बुद्धि की जाँच से शुरू होती है। बुद्धि यानी विचार-शक्ति की जाँच और पुर्जों से अलग करके नहीं की जा सकती। विचार, भाव, स्वभाव और गति, ये चारों ऐसी एकमेक हो रही हैं कि इन चारों में से किसी एक को कोई भी एक समझ लिया जाता है। वेदना नाम का पाँचवाँ पुर्जा और है। उसे हमने जान-बूझकर छोड़ दिया है।

बुद्धि के कार्य

बुद्धि या विचार-शक्ति से हमारा मतलब है, मस्तक के वे सारे काम, जिनमें ये-ये बातें शामिल हैं :

१. हमारे मन पर जो कुछ अंकित होता है, उससे काम लेना।

२. नये-नये विचारों का गढ़ना।

३ विचारों को तर्क की छलनी में छानना।

४. एक विचार की दूसरे विचार से तुलना करना।

५. 'हाँ' के फैसले पर पहुँचना यानी यह तय करना कि यह ठीक है और हमारे काम का है।

६ 'ना' के फैसले पर पहुँचना यानी यह तय करना कि यह निकम्मा है।

७. अक्षर, शब्द, बोल तैयार करना।

८ कल्पना की सीढ़ी के डंडे तैयार करना।

९. इसी तरह के और इसी सिलसिले में तरह-तरह के अनगिनत काम।

विचार-शक्ति नाम का पुर्जा बडी उलझन में डाल देता है, अगर हम इस काम मे लग जायँ कि ऐसा क्यों होता है। इस सवाल के जवाब की खोज में लगकर हम बड़ी गलत जगह पहुँच जाते है। आजकल का सारा पश्चिमी मनोविज्ञान इसी सवाल के जवाब की खोज में लगा पाया गया है। मनोविज्ञान

कल्पना की मदद से एक ऐसे महल के रूप में खड़ा कर दिया गया है, जो बड़ा लुभावना बन गया है, बड़ा नशीला हो गया है। उसके नशे में आदमी जिस काम के लिए निकला था, उसे भूल बैठा है, वह है आत्मचेतना। यह ध्यान रहे कि हम कहीं इसी राह न भटक जायँ।

मन के कार्य

दूसरा पुर्जा है भाव पैदा करनेवाला, जिसे मन कहते है। हँसना, रोना, रुचि, अरुचि, भय, घृणा इसके काम हैं। इसके और भी कई काम हैं, पर वह जान-बूझकर नहीं गिनाये गये। देखने मे, समझने मे आदमी को मन के काम बुद्धि के जँचते है और बुद्धि के काम चेतना के जँचते हैं, पर ऐसी बात है नहीं। इन दोनों मे अन्तर है। यह अन्तर जानना स्वाध्याय का काम है। कुछ दिनों में आत्मपठन से विचार और भाव का अन्तर समझ मे आने लगेगा। भाव और विचार एकदम दो अलग चीजें हैं। दो की जगह एक की भावना इतनी पुरानी है और हमारे अन्दर इतनी गहरी घर कर गयी है कि इनको अलग-अलग दो मानने को हमारी हिम्मत नहीं होती। स्वाध्याय के रास्ते में ऐसी कोई मान्यता लेकर चलने में धोखा हो जाने का डर है। क्योकि फिर हम ठीक-ठीक जाँच नही कर सकेंगे। अपनी मान्यता के बल पर आगे बढ़ते चले जायेंगे।

स्वभाव के कार्य

स्वभाव और गति को सबने बुद्धि-पुत्री या मानसपुत्र मान रखा है। यानी यह कि ये उन्हींसे पैदा हैं, इसलिए इनको अलग मानने में और भी ज्यादा मुश्किल होगी।

गति को स्वभाव और स्वभाव को गति मानने का रिवाज चल पड़ा है, जब कि ये दो अलग काम हैं।

हम स्वभाव उनको मानते हैं, जो काम हमारे अन्दर अपने-आप हो रहे हैं। वह सब काम स्वभाव में शामिल हैं, जिनकी जड़ अन्दर है, पर बाहर से कुछ सबंध है।

उठना, बैठना, चलना स्वभाव मे शामिल नही है। यहाँ तक कि बोलना, खाना-पीना, वक्त पर खाने की याद आ जाना तक स्वभाव के कामो में नहीं गिने जा सकते।

स्वभाव मे शामिल है ये काम :

(१) हमारी शरीर-रचना और रचना के लिए होनेवाले काम जैसे, जो खुराक हम खाते है, उसका हमारी देह मे जाकर रस बनना, खून बनना यानी सातों या आठों धातुओं में परिवर्तन होना। स्वभाव से हमारा मतलब अंग्रेजी शब्द इन्स्टिक्ट से है। यही वह इन्स्टिक्ट स्वभाव है, जो पशु-पक्षी और सभी प्राणियों में मिलता है।

(२) हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ यानी सुनना, देखना, सूँघना, चाखना और छूना—इन सबके स्वभाव मिलकर बीस के करीब हो जाते है। इन्हींका एक हिस्सा वेदना है। वह भी स्वभाव में शामिल है।

(३) सुख-दुःख की वेदना भी इसी स्वभाव में शामिल है। है तो इस वेदना का सम्बन्ध इन्द्रियों से, पर समझने के लिए अलग गिना दी गयी है।

(४) गुदगुदी करने से जो हँसी आती है या देखादेखी जो जुम्हाई आती है या नोचने से जो दुःख होता है और इन सबकी जो याद आती है, वह सब स्वभाव के कामों में शामिल है।

आत्मपठन के थोड़े अरसे मे स्वभाव और गति की भिन्नता समझ में आने लगेगी। स्वभाव और गति का अन्तर इस कसौटी से जल्दी समझ मे आ सकता है कि हम अपने हर काम की जाँच पशु या पक्षी को लेकर करें। जितने काम पशु-पक्षी माँ के पेट से लेकर पैदा होते है, वे सब स्वभाव में शामिल है। जो काम वे आदमी की सोहबत में सीख लेते है, वे गति में। आदमी का बच्चा पैदा होते ही माँ के स्तन को नहीं पहचानता। माँ के स्तन को मुँह में लेना उसे सिखाया जाता है, इसलिए वह स्वभाव नहीं है, वह गति है। माँ के स्तन से दूध निकालकर गले के नीचे उतार लेना स्वभाव है, इसे सिखाने की जरूरत नहीं होती। बस, यह एक ऐसी कसौटी है, जिससे स्वभाव और गति का अन्तर समझा जा सकता है।

स्वाध्याय के सिलसिले में हम इतने गहरे क्यों चले जा रहे हैं? सिर्फ इसलिए कि हमारे मन पर यह बात अच्छी तरह अंकित हो जाय कि हम जागते हुए सो रहे हैं। जो कुछ हम कर रहे हैं—हो रहा है, वह न हमारे हुक्म से हो रहा है और न हम खुद उसे कर रहे है।

इस सिलसिले मे यह सवाल उठ सकता है कि आदमी बैठा-बैठा जो नयी-नयी कल्पनाएँ करता रहता है और जमीन-आसमान के कुलावे मिलाया करता है और दिन मे सपने और रात में सपने देखता है, यह सब क्यों और कैसे होता है? इनमें से कुछ पर आदमी का काबू है और कुछ पर बिलकुल नहीं।

इस सवाल का जवाब समझने के पहले हमे यह समझना चाहिए कि कल्पना, सपने इत्यादि हैं क्या चीज? असल मे यह सबके सब विचार की औलाद जैसे मालूम होते हैं, पर बुद्धि से उत्पन्न विचार से इनका कोई सम्बन्ध नहीं। बुद्धि जो कुछ विचार करती है, वह सब उसने आत्मचेतना से सीखा होता है, जिसका वर्णन हम पहले कर चुके। यह दिन के सपने और रात के सपने तथा कल्पनाएँ अगर मन या मस्तक की क्रियाएँ मान ली जायँ, तो वे उस मन और मस्तक की क्रियाएँ हैं, जिसको समाज के पुर्जे आदमी ने इस तरह की सीख दी होती है। इसलिए इनकी गिनती गति मे करना ही ठीक होगा।

विचार, भाव, स्वभाव और गति, ये चारो अनगिनत रूप धारण करते है। इनको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। इनको समझने से हमारा मतलब है कि इस तरह की क्रियाएँ हमारे अन्दर तेजी से चल रही है। इन सब क्रियाओं में चेतना का बहुत कम हाथ है। इन क्रियाओं का कुछ ऐसा हाल समझिये, जैसे कोई आदमी एक फुग्गे में गैस भरकर छोड दे और फिर वह फुग्गा इधर-उधर घूमता फिरे और कही जाकर टकरा जाय और फट जाय। यह ठीक है कि हमने ही उसमे हवा भरी है और हमने ही उसे छोड़ा है, पर उसका हमसे अब कोई सम्बन्ध नहीं और अगर वह फुग्गा अपनी सब क्रियाओं को हमारे सिर मढ़ता रहे, तो उससे कुछ फायदा नहीं उठा सकता और टकराकर फटने से नहीं बच सकता। हाँ, अगर उसमें डोरा बँधा हो और वह डोरा हमारे हाथ में हो, तो वह टकराकर फटने से और दूसरी दुर्घटनाओं से बच सकता है। आदमी के

विचार, भाव, स्वभाव और गति की सब क्रियाओं का कुछ ऐसा ही हाल है। वह आदमी की चेतना से पैदा है, पर उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखती। स्वाध्याय का काम होगा कि वह इन सबको समझ ले, इनसे सम्बन्ध कायम करे और इनको काबू में रखे।

स्वाध्याय के माने हैं, अपने अन्दर इन चारों क्रियाओं को होते हुए देखना और उन्हें ठीक-ठीक समझना और उनका तीन तरह की चेतनाओं से मिलान करना यानी यह कि किस तरह की चेतना मे वह क्रियाएँ किस तरह काम करती हैं।

यह किसे नहीं मालूम कि नींद में आये विचार, भाव, स्वभाव और गति वैसे नहीं होते, जैसे जागती हालत में होते है। नींद में सोची हुई बात को, नींद मे आये हुए भावों को, नींद में हुई स्वाभाविक क्रियाओं को और नींद मे हुई गति को हम वह महत्त्व नहीं देते, जो इसी तरह की उन क्रियाओं को, जो जागती हालत मे हुई हैं।

जागती हालत मे बहुत-सी क्रियाएँ हम ऐसी कर जाते है, जिन्हें हम कभी-कभी यह कहकर अपनी भलाई मानते है कि वह क्रियाएँ हमसे हो गयीं, हमने की नहीं। जरा समझदारी से अगर सोचने-विचारने लगे, तो उसे मालूम हो जायगा, वह रोज ऐसे विचार कर जाता है, जो ठीक नहीं होते, ऐसे भाव दिखा जाता है, जो निकम्मे होते हैं और ऐसी स्वभाव-क्रियाएँ कर जाता है, जिन पर उसका कोई वस नही चलता। ऐसी हरकतें कर जाता है, जिनके लिए उसे पछताना पडता है। यानी जागती हालत मे भी वह ऐसे काम करता है, जिन्हें वह ठीक नहीं समझता।

नींद की हालत में भी कुछ क्रियाओं को ठीक और कुछ को ना-ठीक समझता है, पर जागने की हालत में आकर, नींद की सब क्रियाओं को, चाहे वह ठीक हो या ना-ठीक, रद्द कर देता है, और साफ कह देता है कि यह उसकी की हुई नहीं हैं। फिर भी उन क्रियाओं का थोड़ा-बहुत असर उसके मन पर रह जाता है। अब अगर वह नींद की हालत से आत्मचेतना मे जा सके, तो जागती हालत मे की हुई ठीक और ना-ठीक सब क्रियाओं को अपनाना छोड़ दे। इस

हालत में वह उस नुकसान से बच जायगा, जो नींद की हालत में से जागती हालत में आने से हुआ था यानी आत्मचेतना में जागती हालत का कोई बुरा असर उस पर नहीं रह जायगा। यह दूसरी बात है कि आत्मचेतना में वह ज्यादा देर नहीं रह पाता और जागती हालत में वापस चला जाता है।

स्वाध्याय के लिए अब चेतना की तीन अवस्था और आदमी के संगठन की चार क्रियाएँ रह गयी। चेतना की चौथी अवस्था को हमने इसलिए छोड दिया है कि वह स्वाध्याय का विषय न बनकर आत्मचेतना के बढ जाने से अपने-आप हासिल हो जाती है। असल में वह चौथी अवस्था अपने-आपमें कुछ है नहीं, आत्मचेतना की पूर्णता का दूसरा नाम है।

अब आगे स्वाध्याय के संबंध में जो कुछ हम कहेंगे, वह ज्यादातर यही होगा कि यह संगठन की चार क्रियाएँ आत्मचेतना में क्या-क्या रूप धारण करती हैं, कैसे-कैसे रूप लेती हैं। कौन हमारे फायदे की है, कौन हमारे नुकसान की। एक अवस्था में जो क्रिया होती है, दूसरी अवस्था में वह क्रिया किस तरह होती है और वही क्रिया तीसरी अवस्था में जाकर क्या रूप ले लेती है और कितने महत्त्व की हो जाती है। एक ही क्रिया का तीनों अवस्था में क्या अन्तर होता है, यह पता हमें लग जायगा। स्वाध्याय से हम यह भी जान जायेंगे कि किस क्रिया का, किस अवस्था से ठीक-ठीक रिश्ता क्या है? और आत्मचेतना की हालत में वह क्रियाएँ 'अहं' के काबू में रहकर 'अहं' की इच्छा-शक्ति के इशारे पर किस तरह काम करती है और कितना अच्छा काम करती है।

इन बातों को सुनने और पढ़ने को तैयार होने के पहले इतना और समझ लेना चाहिए कि आदमी की चेतना और आदमी के संगठन की क्रियाएँ बिलकुल दो अलग-अलग चीजें है। यह बात समझने में मुश्किल है कि चेतना या चेतन जो कुछ होता है, सब कुछ जानता है और कर्ता नहीं है। फिर कर्ता कौन है? यह टेढ़ा सवाल है। इसका जवाब टेढ़ी खीर की तरह आसानी से गले नहीं उतर सकता। हमने ऊपर फुग्गे का उदाहरण देकर कोशिश की थी कि जानने और करने के काम को अलग-अलग कर दें और वहाँ हम कुछ सफल भी हुए पर हम कह नहीं सकते कि हमारे पढनेवालों के गले यह बात ठीक-ठीक

बैठ गयी होगी कि जानने और करने की क्रियाएँ अलग-अलग होती हैं। यह विषय है ही कुछ ऐसा कि दूसरों के मुँह सुनकर ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। इसलिए हम ऊपर कह आये कि स्वाध्याय का काम तो आत्मपठन से ही होगा। यह बात कि जानना और करना दो क्रियाएँ हैं और अलग-अलग हैं, अपनी मेहनत से ही समझ में आयेगी।

आगे हम यह समझाने की कोशिश करेंगे या दूसरे शब्दों में अपने पढ़नेवालों से यह समझने की कोशिश करने को कहेंगे कि आदमी के संगठन की क्रियाएँ अपने-आप चलती रहती हैं और उनके लिए जितनी चेतना चाहिए, वह संगठन में नहीं रहती और यह भी कहेंगे कि संगठन में चेतना मौजूद है और क्रियाएँ बिलकुल नहीं हो रहीं। समाधि का नाम सबने सुना है। समाधि कुछ ऐसी ही चीज है, जिसमें चेतना रहती है, क्रियाएँ नहीं। समाधि आत्मचेतना की पूर्णता नहीं है, वह कुछ और ही चीज है और उसे स्वाध्यायी स्वाध्याय के बाद अच्छी तरह समझ लेगा।



दूसरा अध्याय

चेतनाएँ और सृष्टि का स्वरूप

नींद-चेतना

चार चेतनाओं में से हम पहले नींद-चेतना को लेते हैं। आदमी जब नींद में होता है, तो अपने को आधा मरा हुआ समझता है, पर जब आदमी को यह पता लगेगा कि इस 'नींद-चेतना' की हालत मे जगत् के अनगिनत प्राणी पैदा होने से मरने तक रहते हैं, तब उसकी कुछ तसल्ली हो जायगी। उस अधमरी हालत में भी आदमी का मन ऐसे-ऐसे काम करता रहता है, जिनको अगर आदमी खुद अध्ययन करने लगे, तो यह समझना चाहिए कि उसने उन्नति की राह पर कदम रख दिया और अगर वह इसी राह कुछ दिनों बढ़ता रहा, तो नींद के बारे में ही उसको तरह-तरह की जानकारी होगी। और उस पर यह भेद अपने-आप खुल जायगा कि नींद उतनी ही नहीं है, जितनी देर वह बेखबर सोता है और न नींद वही है, जिसमे वह चारपाई पर लेटा रहता है। नींद एक तरह की नहीं, कई तरह की है और सब नींदो में चेतना का कुछ-न-कुछ अन्तर रहता है। दूसरी नींद मे पहली नींद मौजूद रहती है। तीसरी नींद मे पहली और दूसरी मौजूद रहती है और इसी तरह यह सिलसिला जागती हालत तक चला जाता है, यानी जागते हुए भी नींद ऐसे ही मौजूद रहती है, जैसे उजाला जाने पर अन्धेरे मे चीजें मौजूद रहती है, दिखाईभर नहीं देती।

नींद की किस्मे

यों तो नींद की बहुत किस्मे है, पर पहले हम उसको दो भागों मे बाँटेंगे : १. आदमी की नींद, २. और प्राणियों की नींद। अब हम आदमी की नींद को पाँच भागों मे बाँटेंगे : १. नींद, २ गाढ़ी नींद, ३ चलती नींद, ४. गाढ़ी चलती नींद, ५. काम करती नींद। आदमी की इन पाँचो नींदो में से किसी नींद का

संबंध जागती अवस्था या जागती-चेतना से नहीं है। यह दूसरी बात है कि हम जागती-चेतना को एक तरह की नींद-चेतना मानते हैं और यह भी मानते हैं कि जागती-चेतना के समय नींद-चेतना के सब अनुभव हमारे साथ रहते हैं।

और प्राणियों की नींद का हम विस्तार से वर्णन नहीं करेंगे। पर उतना ही वर्णन करेंगे, जितना आदमी की नींद समझने के लिए जरूरी है। प्राणियों को हम दो भागों में बाँटेंगे। एक चलते-फिरते यानी चल प्राणी और दूसरे, न चलनेवाले यानी अचल प्राणी। चलते प्राणी है, कीडे-मकोड़े से लेकर बंदर तक सारे प्राणी, और अचल प्राणी हैं, पेड, पौधे, धातु, आग, पानी, हवा सब।

धातु, आग, पानी, हवा जागते और सोते हैं, इसकी जानकारी या तो विज्ञानियों को है, जिन्होंने बारीक-बारीक औजार तैयार करके अपनी मामूली आँख से उसे देख लिया है या फिर उनके जागने-सोने का उनको पता है, जो आत्मचेतना में रहना जानते हैं। हर आदमी को इनके सोने-जागने का ज्ञान नहीं है, इनके मरने-जीने का भी ज्ञान नहीं है। 'धातु मारना' एक मुहावरा है और वैद्य लोग धातु को मारते भी हैं। मरी हुई धातु को रस, कुश्ता या भस्म कहते हैं। धातु मारने की इस बात से हम सबकी जानकारी है। अब जो मरता-जीता है, उसे सोना-जागना भी चाहिए। इसलिए धातु, हवा, पानी और आग के जीने-मरने का और सोने-जागने का मामूली आदमी को अनुमान हो सकता है। उसकी ज्यादा जानकारी के लिए या तो उसको विज्ञान सीखना पडेगा या आत्मचेतना में दाखिल होना पड़ेगा। यहाँ इतना और ध्यान में रखना चाहिए कि विज्ञान की सारी खोजों की तह में आत्मचेतना की किरण रहती है। इसका इशारा हम पहले अध्याय में कर आये हैं।

पेड़-पौधों की नींद से आदमी के बच्चे तक वाकिफ हैं। हर घर में माँ-बहनें बच्चों को शाम के वक्त दरख्तों के पत्ते तोडने से यह कहकर रोकती रहती हैं कि शाम को पेड सो जाते है, उनको नहीं सताना चाहिए। यह बात बच्चों को पेड़ों के पत्ते तोडने से रोकने के लिए बहकावे के लिए नहीं कही जाती, सचमुच पेड़ सोते हैं। कोई भी आदमी किसी पेड या पौधे के

पास सूरज डूबने से कुछ पहले बैठकर और सूरज डूबने के बाद कुछ देर तक बैठे रहकर अपनी आँखों पेड़-पौधों के सोने का तमाशा देख सकता है।

पेड़ सोते हैं, तो जागना जरूरी है। यों पेड दो चेतनावाले हो गये यानी नींद-चेतना और जाग-चेतना। पर जहाँ हमने जाग-चेतना की बात आदमी के लिए कही है, उस जाग-चेतना के सामने पेडों की जाग-चेतना इतनी भी नहीं होती, जितनी आदमी की नींद-चेतना। अब पढ़नेवाले खुद ही अंदाजा लगा सकते हैं कि आत्मचेतना मे रहनेवाले आदमी की नींद से भी कम दर्जे की होगी वह जाग-चेतना, जो सिर्फ जाग-चेतना मे रहता है। यही वजह है कि संतों को, हमारी जागती हालत को भी, नींद कहकर पुकारना पडा।

नींद-चेतना ही कर्म-चेतना

नींद-चेतना का दूसरा नाम है **कर्म-चेतना**। कर्म-चेतना का अर्थ होता है **कर्म होते रहना, कर्म करना नहीं**। कर्म करने और होने मे यह अन्तर है :

१ **कर्म करना**—जब हम कोई कर्म करते हैं, तो उसके पीछे कोई विचार रहता है, कर्म करने का कोई उद्देश्य होता है। जो काम करते हैं, उसके कुछ कारण होते हैं। कारणों में से कोई निमित्त होते हैं, कोई उपादान। हमारे कर्म करने का कोई फल होता है।

२. **कर्म होना**—कर्म के होने में विचारों की परछाईं रहती है, उद्देश्य कोई नहीं होता। कारण होते हैं, पर कार्य से संबंध नहीं रखते। इसलिए उनका होना, न होना बेकार। फल भी कुछ नहीं होता और जो फल होता है, उसके वे खुद कारण नहीं होते, कोई दूसरे कारण होते हैं।

नींद मे हम जो सपने देखते हैं, उनकी अगर हम जाँच करें, तो यही पता लगेगा कि वहाँ जो कुछ कर्म होता है, वह होता है, उसका कोई कर्ता नहीं है। हर कर्म का कर्ता होना चाहिए, इस दलील में कुछ दम है, पर स्वाध्याय की खातिर इस दलील को मानकर यह कह डालने में कि चेतना ही उसका कारण है, ज्यादा ठीक नहीं रहेगा। इसमे शक नहीं कि हम सोकर मर नहीं जाते, इसमें भी शक नहीं कि हम सोकर बिलकुल अचेतन नहीं हो जाते, हमारी चेतना कहीं भाग

नहीं जाती, पर उस जीवित अवस्था और चेतन अवस्था को जीता और चेतन मानना अपने-आपको उन्नति के रास्ते पर आगे बढ़ने से रोकना है।

नींद की हालत में यानी नींद-चेतना मे कर्म होते रहते है। कोई कर्मों को करता नही है। बस, इसीको कर्म-चेतना कहते हैं। यह हम पहले कह आये हैं कि नींद में आत्मचेतना के पास रहनेवाली बुद्धि सोयी रहती है और कोई उन्नति नहीं करती, पर इस कमी का उपयोग नींद देह की बढ़वारी के लिए कर लेती है। यही वजह है कि पेड-पौधे जितने रात को बढ़ते हैं, उतने दिन में नहीं। इस तरह उनकी नींद-चेतना दो हिस्सों में बाँटी जा सकती है : एक दिन की नींद और एक रात की नींद। दिन की नींद को जाग-चेतना कह सकते हैं। अब आपकी समझ मे यह बात आ गयी होगी कि हम आदमी की जाग-चेतना को नींद नाम मे क्यो पुकारते हैं। सिर्फ इसलिए कि आदमी जागता रहकर भी कर्म नही करता। जिन कर्मों को हम उसका किया हुआ मानते हैं, वह असल में उससे हुए होते है। भूलो के बारे मे हर आदमी पहले पहल यही कह बैठता है कि मुझसे भूल हो गयी। यह वह नही कहता कि मैंने भूल कर दी। भूल कर देने की बात तो उसे धमकाकर उससे कहलवाई जाती है। 'भूल हो गयी' कहना सत्य है, पर यह सत्य भी वह आत्मचेतना का चेताया हुआ नहीं कहता, यानी यह सत्य भी वह बोलता नहीं, उसके मुँह से निकल जाता है।

क्या पेड-पौधे उन्नति कर सकते हैं? इस सवाल का जवाब यही हो सकता है कि कर तो नहीं सकते, उन्नति हो जाती है। जाग-चेतना में रहनेवाले आदमी का भी तो यही हाल है। वह भी उन्नति कहाँ करता है, पर उन्नति हो जाती है।

पहले कहीं यह कहा गया है कि नींद-चेतना और जाग-चेतना को चेतना कहना बेकार है। असल में यह चेतन की दो हालतें हैं, क्योंकि इन हालतो में चेतना का जो असली काम है, वह नहीं हो पाता।

चेतना का असली काम है उन्नति, करना। उन्नति करने का मतलब है, गुणों की बढवारी या गुणों की मझाई करना। ये दोनों काम नींद-चेतना और जाग-चेतना में नहीं होते, यह होते हैं सिर्फ आत्मचेतना में।

नींद और जाग-चेतना के कार्य

नींद-चेतना और जाग-चेतना में हमारे सब कामों में कार्य-कारण नहीं रहते। इसलिए या तो उनका कुछ भी फल नहीं होता या अगर होता है, तो विपरीत फल होता है, जिससे हमारी बढवारी रुक्ती ही नहीं, घटवारी आकर जगह ले लेती है। इन दोनों हालतों में आदमी अपने में कोई नयापन नहीं ला सक्ता।

जागते हुए आदमी के सिर पर नींद सवार रहती है। आदमी की नींदों में हम पाँच तरह की नींद गिना आये हैं। एक नींद, दूसरी गाढी नींद, तीसरी चलती नींद, चौथी गाढ़ी चलती नींद, पाँचवीं काम करती नींद। इन पाँच नींदों में से पिछली नींद बहुत कम लोगों को होती है, फिर भी वह इतनी कम नहीं होती कि जिसे हमारे पढ़नेवाले न जानते हों। अगर न भी जानते हों, तो किसी बड़े-बूढे से पूछकर जान सकते हैं। हर शहर में एकाध आदमी ऐसा मिल सक्ता है, जो आँखें बंद किये सोता रहता है और चलता-फिरता रहता है और काम करता रहता है। घोड़े के बारे में हमने यह सुन रखा है कि वह दो समय छोड़कर, कभी जागता ही नहीं—एक लडाई के समय, दूसरे उस समय, जब दाना खाते वक्त उसकी दाढ़ के नीचे ककड आ जाता है।

काम करती नींद को देख-समझकर यह समझने में दिक्कत न होनी चाहिए कि आत्मचेतना के सामने जाग-चेतना निरी नींद है। हम सब सोये हुए ही काम कर रहे हैं। यही वजह है कि हम एक ओर तरक्की के मैदान में दौड़े चले जा रहे हैं और दूसरी ओर अपने-आपको पहचानने में, सत्य के समझने में, आपसी रिश्ते को पहचानने में एकदम पीछे पडे हुए हैं।

जिस तरह नींद में बनाये हुए महल और नींद में किया हुआ उड़ने का आविष्कार और नींद में पायी हुई हाथी और शेर से लडने की ताकत और नींद में मिली मनियों खा जाने की क्षमता और नींद में लूटा हुआ आनंद नींद खत्म होने पर कहीं कुछ नहीं रह जाता और हाथ में सिर्फ पछतावा रह जाता है, क्या इसी तरह से इस जाग-चेतना में रहकर विज्ञान में बडी ऊँची उडान ले जानेवाले जर्मनी और जापान का विनाश यह पाठ नहीं देता कि हम इस जाग-चेतना की हालत में भी ऐसे ही बेतुके कार्य-कारणहीन काम कर रहे हैं, जैसे नींद में होते

रहते है। 'कर रहे' तो कहने के लिए कह दिया, असल में ये काम होते रहते हैं और हो रहे हैं।

अब सवाल यह पैदा होता है कि अगर हम अपनी जाग-चेतना को नींद-चेतना मान ले यानी जागते हुए भी हम अपने को सोया हुआ मान लें, तो फिर जागेंगे किस तरह?

जिन उपनिषदों ने या जिन ग्रंथों ने हम जागते हुओं को सोया हुआ माना है, उन्होंने हमसे सिर्फ जागने की बात नहीं कही, हम कैसे जागें, यह बात बताने का इशारा भी किया और उसे थोड़ा-बहुत हम सब जानते भी हैं, पर हमारी जानकारी जागने के लिए काफी नहीं है। हर काम के लिए तीन चीजें जरूरी होती हैं—सच्चा विश्वास, सच्ची रीतियाँ और सच्चा अमल। सच्चे विश्वास से मतलब है, हर काम की ठीक, असलियत की जानकारी। सच्ची रीतियों से मतलब है, ठीक-ठीक रीतियों का ज्ञान और सच्चे अमल से मतलब है, पूरी लगन के साथ रीतियों में भूल किये बिना काम में लगना। बस, अकेली जानकारी काम नहीं देगी, उस पर अमल करने की जरूरत है, पर उसीके लिए है स्वाध्याय यानी आत्म-पठन।

जागते हुए आपने अपने को सोया हुआ माना और आप जागे या कम-से-कम जागने के लिए तैयार हुए और उपनिषदों की बोली में कलजुग-द्वापर को छोड़ त्रेतायुग में दाखिल हुए। देखिये, जब भी कोई आपसे यह पूछ बैठता है कि 'यह तुम कह रहे हो?' तब तुम जोश में आ जाते हो और जोर से कह बैठते हो 'हाँ, मैं कह रहा हूँ'। यह कहलवाती है आत्मचेतना की झाँकी या आत्मचेतना की कौंध। बिजली कौंधी और गायब। आत्मचेतना इसी तरह दिन में कई बार कौंध-कौंधकर गायब हो जाती है यानी आदमी दिन में कई बार जागता है। पर बस, क्षणभर के लिए। चेतना की इस कौंध को पकड़ लेना ही स्वाध्याय का पहला पाठ है।

आत्म-चेतना ही जागना है

जिसे हम आत्मचेतना कहते हैं, वही जागना है और जागने की तरकीब है,

चेतना की कौंध को ठीक-ठीक समझना और उसको पकडने और बनाये रखने की कोशिश करना। यह कोशिश तभी हो सकती है, जब हम यह समझें कि वह कौंध या चमक हममें आकर तुरत चली जाती है। हम समझे हुए हैं यह, कि वह कौंध या चमक हममे हमेशा बनी रहती हैं। यह किसको नहीं मालूम कि जब कोई बड़ी गुत्थी किसीके पास आ जाती हैं, तो वह यही चाहता है कि थोडी देर के लिए उसे अकेला छोड दिया जाय और वह अकेलापन इसीलिए तो चाहता है कि वह अपने-आपको जगा सके या आत्मचेतना की कोई किरण पा सके और उसीके बल-बूते गुत्थी सुलझा सके। क्या यह इस बात का सबूत नहीं है कि आत्मचेतना हममें नहीं है?

आत्मचेतना को दूसरी तरह यों समझिये कि जब-जब हम अपने को ज्ञेय मानकर यानी अपने से अलग कोई चीज मानकर उसे जानने की कोशिश करते है, तब-तब हम जागते होते हैं। नहीं तो हम सोते रहते है या सपने की दुनिया मे फँसे रहते है। अब चेतना के माने हुए अपने-आपको ज्ञाता मानना और अपने मन, मस्तक और बुद्धि को ज्ञेय समझना।

चेतना यानी आत्मचेतना या आत्मतत्त्व-चेतना को पहचानना, समझना और उसीमें निवास करना आदमी का आदर्श है, ध्येय है, और यही है आस्तिकता यानी सत्येश्वर पर विश्वास लाना। यही चेतना वह राम है, जो सबके घट घट में है।

अब यह मानने में किसे इनकार हो सकता है कि नींद में सत्य नहीं समझा जा सकता। चेतना जो सत्य है, वह नीद मे रही हुई मान ली जाय, तो हमारे किस काम की, जब कि उसका हमे कुछ ज्ञान ही नही। हमारी जानकारी में न रहनेवाला, हमारी जेब मे पड़ा रुपया कितनी भी जोर की भूख लगने पर खाने की चीज नहीं खरीद सकता। वह जेब मे पडा-पडा हमारी भूख की पीडा को देखभर सकता है।

मेले-तमाशों में कुछ बिजली की कुप्पियाँ ऐसी देखने को मिलती हैं, जो थोडी थोड़ी देर में जलती और बुझती रहती है। कुछ ऐसी होती हैं, जो हरदम जलती रहती है। इन दोनों तरह की कुप्पियों में अन्तर नहीं रहता। अन्तर

होता है इनके तारों के लगाने में। ठीक इसी तरह संतों और मामूली आदमियों में, यानी जागते और सोते आदमियों में देखने के लिए कोई अन्तर नहीं मिलेगा. अन्तर मिलेगा सिर्फ आत्मचेतना का। संतों का ओढावा-पहनावा अलग करके आदमी ने अपने-आपको एक और बड़ा धोखा दिया है। जिस तरह वह विज्ञान के बड़े-बड़े काम करके अपने-आपको जागता हुआ मान लेता है, वैसे ही वह खास तरह के रहन-सहन और ओढावे पहनावे को देखकर कुछ मामूली आदमियों को सन्त कहने लगता है यानी सोते हुओं को जागता समझने लगता है। संत की पहचान संयम है। संयम का जिक्र हम पहले अध्याय में कर चुके हैं। संयम स्वाध्याय का ही दूसरा नाम है। बाहरी रहन-सहन से उसका कोई संबंध नहीं। संयम आँख से दिखाई देनेवाली चीज नहीं। संयम का बाहरी फल हर आदमी में एक-सा नहीं होता। यह दूसरी भूल हमें ठीक कर लेनी चाहिए।

अभी हमने कहा कि चेतना और सत्य, दोनों एक अर्थवाले हैं और सत्य नींद की हालत में नहीं समझा जा सकता। जागकर भी जो सत्य हमारे हाथ लगता है, उसे हम सिर्फ इसलिए सत्य कह सकते हैं, क्योंकि नींद की हालत में हमारे पास उतना भी न था।

हम क्या हैं? यह सत्य न हम सोते हुए जान सकते हैं और न जागकर जान सकते हैं। यह तो हम उस वक्त ही जान सकते हैं, जब हम आत्मचेतना में रहना सीखें।

प्रकृति में ऐसा प्रबंध है कि आत्मचेतना की बिजली हर आदमी में दिन में कई बार अपने-आप कौंध जाती है। उसीसे दिनभर हमारा काम चलता रहता है। उसीके कौंधने पर हमें यह ज्ञान होता रहता है कि हम हैं और अपने मन, बुद्धि और मस्तक के मालिक हैं।

इस कौंध से यह ज्ञान भी होता है कि हम क्या हैं। पर वह तो इस वजह से हमारे हाथ नहीं पड़ पाता कि हम सत्य की तरफ से सोये हुए होते हैं। तभी हम जागते हुओं को सोया हुआ कहा जाता है।

आदमी का आदर्श है सत्य, या ईश्वर की प्राप्ति और यह बात भी तय समझिये कि वह सत्य या ईश्वर बाहर कहीं नहीं, और अगर बाहर है, तो सब

जगह है। पर उस सब जगहवाले ईश्वर से हमें इस वक्त क्या लेना-देना। स्वाध्याय के काम का तो वही ईश्वर है, जो हमारे अन्दर मौजूद है, और उसीका का नाम है सत्य और यही सत्य है चेतना। इस सत्य-चेतना या ईश्वर के पाने का एक ही उपाय है। वह उपाय शब्दों मे कहने के लिए बडा सीधा-सादा, पर ईश्वर के पाने के लिए वह उपाय बेहद मुश्किल, अशक्य और असभव भी कह दिया जाय, तो बढ़कर कहना न होगा। वह उपाय है : **चेतन, चेतना को ज्ञेय बनाकर, जानने लगे।**

देखिये, करने में है नहीं यह अशक्य ? इसलिए इसको बिलकुल छोडिये। इस ईश्वर के पाने की कोशिश करना बेकार है। हम तो अपने को पहचानने में लगें, वही हमारे काम की चीज है। उसको जानकर ही हम इतना जान जायेंगे, जो हमारे सँभाले न सँभलेगा।

अब यह साफ हो गया कि नीद में हम जो कुछ जानते हैं, वह अगर दूर से देखी हुई चेतना की परछाइँ है, तो जागकर जो हम जानते हैं, वह चेतना के पास आयी हुई परछाइँ है। चेतना की झलक, चमक या कौंध, जो हमारी कोशिश के बिना हममें कभी-कभी होती रहती है, उसीको समझना और पकडना हमारा काम है। उसीकी हेराफेरी को बढ़ाना और उसीकी मुद्दत को लबाना हमारा इस वक्त का ध्येय है। और इतना काम स्वाध्याय से हो सकता है।

चेतना को चमकाना ही स्वाध्याय

जो झलक, चमक या कौंध हमारे अन्दर जब-तब होती रहती है, उसमें हमारी मेहनत का कोई हिस्सा नहीं रहता। स्वाध्याय इसीका नाम है कि हम अपनी मेहनत से चेतना को अपने अन्दर झलका लें, चमका लें या कौंधा लें। अपने अनुभव पर से हम यह कह सकते हैं कि थोड़े दिनों सच्चे जी से स्वाध्याय में लगने से वह आदमी की मेहनत से जरूर झलकती, चमकती और कौंधती है। उस झलक या चमक से आदमी को बडा आनन्द आता है, पर आम तौर से होता यह है कि आदमी उस आनन्द को कुछ-का-कुछ समझ बैठता है और उससे पायी हुई मस्ती को अभिमान मे बदल देता है। और फिर जरा-सी देर

जागकर इतना गहरा सो जाता है कि फिर जागने की सोचता ही नहीं—यानी अब वह अपने-आपको संत, महात्मा कहने लगता है और अपना नुकसान कर लेता है। कबीरदास ने इसी बात को समझकर ठीक ही कहा है :

हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार-बार वाय खोले क्यों ?

पर न जाने क्यो सभी आदमी उस हीरे को गाँठ बाँधना तो एक ओर, ऐसे दिखाते फिरते है मानो वह कोई तमाशे की चीज हो। अब उन्हें क्या कहें ? यही कहना चाहिए, 'नादीदी गुड पायो, गोजा डार हलायो'।

नींद की हालत मे कोई आदमी यह नहीं समझता कि वह सो रहा है। कभी-कभी किसीको यह खयाल आता है कि वह सपने देख रहा है यानी सो रहा है। हमारे पढनेवालों में से किसी-किसीको यह अनुभव रहा होगा कि सपने के अन्दर सपने आते है यानी वह सपने में अपने को जागा हुआ मान लेता है। सपने का गहरा अध्ययन स्वाध्याय की पहली सीढी या स्वाध्याय की कुंजी है। सपने में जाग-चेतना का अनुभव होता है, जाग-चेतना की झाँकी मिलती है, जाग-चेतना की याद आती है। वही झाँकी और याद सपने के भयानक दृश्यो के मुकाबला करने के लिए बल देती है। सपने के बुरे प्रभावों को मिटाने में सहायक होती है। दो शब्दो में नींद मे जाग से भेंट करता है।

सपनो का अध्ययन स्वाध्याय की कुंजी

अब से हजारों वर्ष पहले आदमी सपने को 'भूत का असर' समझता था। आजकल भी बहुत छोटे बच्चे सपना देखकर रो या हँस देते है। उनको बोलना नहीं आता। क्या अजब वह बच्चे भी इन सपनों को 'भूत का असर' समझते हो। आज भी कुछ जगली जातियाँ बुरे सपनों को इतना ही महत्त्व देती हैं और ऐसा ही भूत का असर समझती हैं, जिस तरह आज के सभ्य समाज की स्त्रियाँ हिस्टीरिया को 'भूत का असर' समझती हैं। मरे हुए भूतों में थियोसफी ने फिर से जान डाल दी है। पढे-लिखे आदमी अब फिर से भूत-प्रेतो को बुलाने लगे है। यह सब हम इसलिए लिख रहे हैं कि सपने को ठीक-ठीक न समझकर आदमी ने उसके विषय में अनोखी कल्पनाएँ खडी कीं। असल में वह सपने के दुःख

से बचना चाहता था। बड़ी मेहनत के बाद वह सपने को सपना समझ पाया। उसे अब यह जरूरत पड़ी कि जब सपने मे जाग-चेतना की झाँकी पाये, तब यह पहचान कर सके कि क्या वह सचमुच सपना देख रहा है? यह कोशिश सिर्फ इसलिए थी की वह अपने मन, मस्तक और बुद्धि को यह पक्का इतमीनान करा सके कि वह जाग नहीं रहा है, सपना देख रहा है। और सपने से उसे प्रभावित होने की कोई जरूरत नहीं। खुलासा यह कि वह प्रभाव से बचना चाहता था। सपने में आदमी जितने काम करता है, उन कामों का वह अपने-आपको कर्ता समझता रहता है और यही समझ दुःखदायी है। संतो ने इसीको अज्ञान माना है। इसी अज्ञान से बचने की कोशिश का नाम स्वाध्याय है। हाँ, आखिर इस कोशिश में आदमी को एक तरकीब हाथ लग गयी, और वह यह कि जब भी नींद-चेतना मे उसे जाग-चेतना का ध्यान आये और वह बुरे सपने देख रहा हो, तो अपने-आपको नोचकर देखे या दाँतों से काटकर देखे। अगर उसे तकलीफ या दर्द न हो, तब तो वह सो रहा है और अगर तकलीफ हो, तो वह जाग रहा है।

प्रेमियों के बारे मे कवियों की यह निरी कल्पना नहीं है कि वह सपने में जब भी अपनी प्रेमिका को देखते हैं, तो उन्हें अक्सर जाग-चेतना हो आती है। और फिर वह जान-बूझकर ऐसी प्रार्थना करते हैं कि हम जाग-चेतना में न आये और प्रेमिका के मिलन का सपना देखते रहें। कवियों की यह बात भी सच है कि प्रेमी जाग-चेतना में रहकर भी अपनी प्रेमिका के सपने देखता है। तब तो उसे इस बात की बड़ी जरूरत हो जाती है कि वह परीक्षा करके देख ले कि वह सो रहा है या जाग रहा है। इसीलिए तो वह अपनी चेतना को नोचने और काटने की कसौटी पर कसता है।

बरसो से निराश प्रेमी को जब अचानक अपनी प्रेमिका के दर्शन हो जाते हैं, तब उसे मुश्किल से यह विश्वास होता है कि वह अपनी प्रेमिका को सचमुच सदेह देख रहा है। कहीं सपने मे अदेह तो नहीं देख रहा? ऐसे मौके पर भी नोचने और काटने की कसौटी से काम लिया जाता है।

आत्मचेतना के लिए जाग-चेतना मिथ्या

जिस तरह नींद की जॉच करने की कसौटी नोचना और काटना है, क्या इसी तरह आत्मचेतना के पास जाग-चेतना के जॉचने की कोई कसौटी है ? जाग-चेतना जैसे नींद-चेतना को तुच्छ और मिथ्या समझती है, वैसे ही आत्मचेतना जाग-चेतना को नींद समझती है। इसलिए जाग-चेतना तुच्छ और मिथ्या ठहरी और फिर हेय तो है ही। आत्मचेतना की जरा-सी झाँकी के बल पर, किसी संत ने यह कह डाला कि जगत् सपने की तरह मिथ्या और भ्रम है। जगत् के मिथ्या और भ्रम होने की बात स्वाध्याय के जरिये आत्मचेतना मे दाखिल होकर आप-ही-आप समझ मे आ जायगी। मिथ्या नींद को त्यागकर जाग-चेतना में आने से आदमी जैसे टोटे मे नहीं रहता, वैसे ही जाग-चेतना को मिथ्या समझकर आत्मचेतना मे रहकर आदमी टोटे में नहीं रहेगा।

मिथ्या नींद में मिथ्यापने का जादू आदमी पर छाया रहता है और आदमी उन कामों को, जो नींद में हो रहे होते है, अपना किया हुआ मान लेता है। वास्तव में वह उनका ज्ञाता है, हम समझते हैं कि हमारे पढनेवालों की समझ मे उस ऋषि की बात अब अच्छी तरह जम गयी होगी, जिसने यह सलाह दी कि मनुष्य का आत्मा ज्ञाता है, कर्ता नहीं।

आदमी जैसे ही आत्मचेतना में रहना सीख लेगा, वैसे ही उसे जाग-चेतना सपना मालूम होने लगेगी, तुच्छ और मिथ्या जँचने लगेगी और वह जाग-चेतना के सब दुःखों से दूर हो जायगा। जाग-चेतना मे आत्मचेतना का पक्का विश्वास और उसकी निरंतर याद ही जाग-चेतना के सारे दुःखों को दूर करने के लिए काफी है और इसीको कुछ ऋषियों ने सम्यग्दर्शन नाम से पुकारा है। उनकी यह बात भी ठीक ही है कि सम्यक्त्वी अपने ढंग का नया आदमी बन जाता है। वह दुनिया मे रहता है, पर जल में कमल की तरह यानी दुनिया के दुःख-सुख से अछूता।

अब सवाल सिर्फ यह रह जाता है कि नींद-चेतना में रहकर जाग-चेतना की याद आने पर नींद-चेतना के कामों को परखने की कसौटी तो है, पर जाग-

चेतना में रहकर आत्मचेतना की याद आने पर जाग-चेतना के कामों के परखने की कसौटी है या नहीं ? हाँ, होनी तो जरूर चाहिए और हम तो यही कहेंगे कि वह है और जरूर है। आदमी ने सपनों से तंग आकर सपनों को परखने की कसौटी सोच निकाली और उनको मिथ्या साबित कर दिया और अपने-आपको इनका कर्ता न मानकर सिर्फ ज्ञाता माना और इस तरह सपनों के कामों के दुःख-सुख से अपने-आपको अछूता बना लिया, फिर जाग-चेतना के कामों की परख-कसोटी क्यों न होगी ?

जाग-चेतना का दुःख

आज आदमी जाग-चेतना में किये हुए कामों से बेहद दुःखी है और इतना तंग आ गया है कि अब वह दुःख उससे सहे नहीं जाते। उन दुःखों से ऊबकर वह शांति देवी का प्रेमी बन गया है और अब आदमी का यह हाल है कि वह अपनी इस शांति नामी प्रेमिका के दर्शन करता है, पर उसे यह विश्वास नहीं हो पाता कि वह उसके दर्शन सपने में कर रहा है या जागते में। वह पागल प्रेमी की तरह यह तो चाहता है कि हरदम अपनी प्रेमिका को देखता रहे, पर जैसे ही वह आँख खोलता है यानी आत्मचेतना से जाग-चेतना में आता है, तो प्रेमिका गायब और सामने खड़ी दिखाई देती है अशान्ति यानी लड़ाई की देवी। कभी-कभी जब संदेह शांति उसके सामने आ जाती है, तब उसे यह विश्वास नहीं होता कि वह उसे जागते हुए देख रहा है। वह यही समझता है कि वह उसे सपने में देख रहा है।

सपने के कामों की तरह जाग-चेतना के कामों का दुःख इतना बढ़ गया है कि सहा नहीं जाता। तब हमें वह कसौटी ढूँढ़ निकालनी पड़ेगी, जिस पर हम यह कस सकें कि जाग-चेतना में किये हुए सुख-दुःख के कामों के हम कर्ता नहीं, सिर्फ ज्ञाता हैं। स्वाध्याय के जरिये आत्मचेतना में दाखिल होकर यह कसौटी बड़ी आसानी से मिल सकती है।

मान लीजिये, आप एक साफ कुर्ता पहने हुए हैं। उस कुर्ते पर आपका बेटा या आपका नौकर भूल से या जान बूझकर स्याही गिरा देता है। जैसे ही कुर्ते पर स्याही

गिरी कि आप आपे से बाहर हुए, आगबबूला बने, बेटे या नौकर पर पिल पड़े और लगे उसे पीटने। इसी तरह की बातें सपने मे होती हैं। सपने मे आप सुख-दुःख मानते हैं और वह सुख-दुःख जागने पर नष्ट हो जाता है। अब आप जागते हुए सुख-दुःख मान रहे हैं। यह सुख-दुःख आत्मचेतना में आकर क्यों नष्ट नहीं हो जाते?

सपनों के सुख-दुःख दूर होने की बात तो आप आसानी से मान लेते हैं, क्योंकि आपको जाग-चेतना का अनुभव है। जाग-चेतना के सुख-दुःख दूर होने की बात आप आसानी से नहीं मानते, क्योंकि आत्मचेतना का आपको अनुभव नहीं है और फिर आप उसके लिए हमसे दलील चाहते हैं और उनके परखने की कसौटी माँगते हैं। ठीक है, आपको यह माँगने का हक है।

कर्ता नहीं, ज्ञाता होने की दलील

उस नये कुर्ते को, जो आप पहने हुए हैं, उसी नौकर को दे डालिये, जिसने उसपर स्याही खिडाई थी और फिर उस नये कुर्ते पर अपने बेटे को स्याही खिडाने दीजिये और अब देखिये, क्या होता है। अब यह होगा कि नौकर आपके बेटे पर बिगड़ रहा होगा। आप हँस रहे होंगे और नौकर को समझा रहे होंगे कि स्याही गिरने से कुर्ते का क्या बिगड गया; सारे कुर्ते को उसी रग में रँग डाले, बड़ा अच्छा लगने लगेगा और कह रहे होंगे कि अरे ओ बेवकूफ, रँगाई के तो पैसे लगते हैं और इस बच्चे ने तेरे कुर्ते का इतना हिस्सा रग दिया, उस हिस्से की रँगाई का यह बच्चा हकदार हो गया। इसको रँगाई के दाम न दे, एहसान तो मान! क्या यह दलील काफी नहीं है कि जाग-चेतना के समय हमारा वह क्रोध, जो हमारे कुर्ते पर स्याही पड़ने से उठ खडा हुआ था और हमारी वह सहानुभूति और हँसी, जो नौकर के कुर्ते पर स्याही पडने से आ खड़ी हुई थी, वह दोनों-तीनों हमारी की हुई नहीं थीं, हो गयी थीं और हम उन सबके कर्ता नहीं थे, ज्ञाता थे।

दलील की कसौटी

यही दलील कसौटी का रूप इस तरह ले सकती है—जाग-चेतना मे जैसे ही

आत्मचेतना की याद आये और जैसे ही आपको जाग-चेतना सपने जैसी मालूम होने लगे और जैसे ही आप जाग-चेतना के सुख-दुःख से ऊबकर बचने की सोचने लगें और जैसे ही आपके जी में यह परखने की सूझे कि आप उस वक्त जाग-चेतना मे हैं या आत्मचेतना में, तब ऐसा कीजिये कि आप किसीको बुरा-भला कहिये और उसको गाली देने दीजिये और फिर देखिये, अगर आपको गुस्सा आये तब तो समझिये कि आप जाग-चेतना में हैं और अगर गुस्सा न आये, तो समझिये कि आप आत्मचेतना में हैं। इसी तरह आप किसी सभा मे सभापति के आसन पर बैठिये और अपने आठ-दस बरस के लड़के को ऐसे ही अपने गले लिपटने दीजिये, जैसे वह घर पर लिपटता है और फिर देखिये, आपके मान को कोई धक्का पहुँचता है या नहीं। अगर धक्का पहुँचता है, तो आप जाग-चेतना में हैं, नहीं पहुँचता है, तो आप आत्मचेतना में हैं। आप सड़क पर चलिये और ऐसी सडक पर कि बिलकुल सूनी हो और मान लीजिये, वहाँ एक सौ रुपये का नोट पडा है और अब अगर आप उठाकर उसे चुपके से जेब में रख लेते हैं और कुछ डरे-डरे इधर-उधर ताकते हैं, तो आप जाग-चेतना में हैं, आत्मचेतना में नहीं। इसी तरह की अनगिनत कसौटियाँ तैयार की जा सकती हैं। पर यह होगा तभी, जब आप जाग-चेतना के धोखों से ऊब उठे होंगे और कर्तापने के लालच से अघिया गये होंगे।

दलील और कसौटी हमने अपनी राय में साफ-साफ रख दी, उदाहरण की जरूरत नही। फिर भी एक-दो उदाहरणों से उन दलीलो और कसौटियों को और मांझे लेते है।

गांधीजी का आत्मचेतना का विश्वास

भगतसिंह को फाँसी का हुक्म हो चुका था या शायद फाँसी लग चुकी थी और गाधीजी दिल्ली से करांची-कांग्रेस के लिए जाने को स्टेशन पर आये हुए थे, रेल के डब्बे मे बैठ चुके थे, तभी काले झडे लिए लोगों का एक दल आया और बुरी तरह उन्हें बुरा-भला कहता रहा। यहाँ तक कि एक आदमी इतनी बे अदबी कर गया कि उस बे-अदबी को लिखने को जी नहीं चाहता। पर

गाधीजी हँसते ही नहीं रहे, मुँह उधर ही किये रहे, जिधर से वे-अदवी की बौछार आ रही थी। वह उसे सपना न समझते, तो न वह इतने दिन जी सकते थे और न वह काम कर सकते थे, जिसे अनेक आदमी चमत्कार कहते हैं। यह उदाहरण देकर हम फिर भी यह कहने की हिम्मत नहीं करेंगे कि गांधीजी जितनी देर तक वे-अदवी की बौछार सहते रहे, आत्मचेतना म थे। आत्मचेतना में रहना आसान काम नहीं, उसमें ज्यादा देर रहना जरूरी भी नहीं। आत्मचेतना में रहकर आदमी दुनिया के कामों के लिए ऐसे ही निकम्मा हो जाता है, जैसे जाग-चेतना में रहकर सपने देखने के लिए। जाग-चेतना मे आत्मचेतना का पक्का विश्वास और सच्ची याद बहुत काफी है। हाँ, आत्मचेतना का प्रेमी आत्मचेतना मे रहने का अभ्यास जरूर बढ़ाता रहे, क्योंकि उस अभ्यास से उस प्रकृति के बड़े-बड़े रहस्यों का पता लगता है, जो जाग-चेतनावालों के लिए कभी अपना घूँघट उठाकर नहीं देती।

गाधीजी करॉची-काग्रेस के मच से बोल रहे थे कि इतने में विरोधी दल ने काग्रेस पर धावा बोल दिया। काग्रेस के सारे दर्शक और सारे प्रतिनिधि एकदम अचकचा गये और उनमें से कुछ उठकर भागने की तैयारी में लगे। गाधीजी ने बोलते-बोलते बीच में ही कुछ शब्द उन घबराये हुए लोगों के लिए कहे और फिर अपने विषय पर बोलने लगे। जो शब्द कहे, वह ये थे : "लोगों को रोकना वालंटियरों का काम है, आप सब बैठ जायें और अपने-अपने काम में लगें।" वह उन लोगों के धावे को सपने के धावे से ज्यादा महत्त्व नहीं देते थे और शायद इसी वजह से वह सचमुच का धावा सपने का धावा बनकर रह गया। इस उदाहरण से हमें यही समझना चाहिए कि क्षणभर के लिए तो गाधीजी आत्मचेतना मे गये, बाकी काम तो वह आत्मचेतना के विश्वास और उसकी सच्ची याद के बल पर करते रहे।

यह हमारी अपनी कसौटी है, जो हम समझते है, बुरी नहीं है। हमारे पढ़ने-वाले स्वाध्याय में लगकर इससे अच्छी कसौटी खोज सकते है, पर मुश्किल यही है कि जिस तरह नींद में सपने देखते वक्त जाग की याद बहुत कम आती है और अगर याद आ जाय, तो नींद के कामों को कसौटी पर कसने की बहुत कम सूझती

है और इतना ही क्यों, नींद में जब हम जागने का सपना देखते हैं और उस जागने में हम फिर सो जाते हैं और फिर नींद की नींद में जिस जाग की याद आती है, वह भी तो सपने की जाग होती है और उस वक्त की कसौटी भी सपने के जाग की कसौटी होती है और उस पर कुछ भी नहीं कसा जा सकता। ठीक यही हाल जाग-चेतना मे रहकर होता है। वहाँ भी हमें आत्मचेतना की याद कब आती है? और अगर याद भी आ जाय, तो जाग-चेतना के कामों को कसौटी पर परखने की कब सूझती है और अगर कसौटी पर परख भी लें और वह कसौटी पर ठीक उतरे, तो उस वक्त यह कहाँ जरूरी है कि हम आत्मचेतना मे हों या आत्मचेतना की पूरे विश्वास के साथ याद कर रहे हों; क्योंकि बिना उसके हमारा कामों को कसौटी पर परखना ऐसे ही बेकार होगा, जैसे नींद के सपने में सपने की कसौटी पर सपने को कसना।

कसौटी मौजूद है, कसौटी तैयार करने की तरकीब मौजूद है। अब यह पढ़नेवालों पर निर्भर है कि वे इस कसौटी से फायदा उठायें या न उठायें, अपने अनुभव से नयी-नयी कसौटियाँ तैयार करें या न करें।

स्वाध्याय मे तपस्या की जरूरत

स्वाध्याय के काम में बडी मेहनत की जरूरत होगी, तपस्या की जरूरत होगी। हमारे पढनेवाले तपस्या से कहीं यह न समझ बैठें कि उन्हें सर्दी के मौसम में बर्फ मे गलना होगा और गर्मी के मौसम में तपते पत्थर पर बैठकर ध्यान लगाना होगा या बरसात में पेड के नीचे ध्यानस्थ होकर बैठना होगा। यह सब कुछ नहीं करना होगा। यह सब तो जाग-चेतना के सपने हैं। तपस्या से हमारा मतलब है मन को मारना और उसको इधर-उधर न भागने देना और वह भी कुछ सेकंडो के लिए। यह दिक्कत भी उन्हें शुरू में होगी। कुछ दिनों के बाद मन को थोडी देर के लिए काबू में रखना खेल बन जायगा और हो सकता है, कुछ दिनों में मनखुद भी थोडी देर आराम करने में आनद लेने लगे।

चित्त की वृत्तियों को रोकने के लिए योगसूत्र बडे काम की चीज है, पर हमारे पढनेवालो में से कितने ऐसे होंगे, जो योगसूत्रों को अपने-आप पढ़ और

समझ सकें, तो क्या वे टोटे में रहेंगे? नहीं, बिलकुल नहीं। हम तो यह कहने जा रहे है कि जो योगसूत्रों को अच्छी तरह पढ और समझ सकते हैं, उनके हाथ न कुछ आया, न आ सकता है और न आयेगा। योगसूत्र ऐसे आदमी के अनुभव है, जिसे आत्मचेतना की झाँकी मामूली आदमी से ज्यादा देर मिला करती थी। आत्मचेतना में रहकर सूत्र जैसी कोई चीज नही लिखी जा सकती, न कही जा सकती है। जब-जब आदमी लिखने या कहने बैठता है, तब-तब वह जाग-चेतना में होता है। हाँ, उसे आत्मचेतना मे दृढ़ विश्वास होता है और उसकी सच्ची याद और आत्मचेतना में रहने की सच्ची लगन उसमें जरूर बनी रहती है। स्वाध्याय मे लगकर योगसूत्र का कभी कोई सूत्र पढ़ लिया जाय या किसीसे समझ लिया जाय, तो बेशक फायदा हो सकता है। यह याद रहे कि स्वाध्याय का कुछ दिनो का अभ्यासी किसी-किसी योगसूत्र के उन अर्थों को कभी नहीं मानेगा, जो अर्थ उस पंडित के मुँह से निकले होगे, जो अपने-आपको योगसूत्रों का बडा विद्वान् समझता है। स्वाध्यायी मानने-न मानने की बात उस पडित से कहेगा भी नहीं, पर उन गलत मानो मे से बड़ी जल्दी सच्चे माने निकाल लेगा, अपनी तरक्की कर लेगा और फिर स्वाध्याय में लग जायगा।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व

स्वाध्याय है आदमी के विकास के लिए, स्वाध्याय है आदमी को अपनी पहचान करने के लिए, स्वाध्याय है उस अवस्था में रहने के लिए, जिस अवस्था में रहकर जाग-चेतना के काम उसके किये हुए नहीं रह जाते, जिस अवस्था मे रहकर वह जाग-चेतना के कामों का ज्ञाताभर रह जाता है।

स्वाध्याय विकास के लिए और अपनी पहचान करने के लिए है। पर आदमी यह कहाँ जानता है कि उसका विकास क्या है? उसका विकास किसमें है? और वह अपनी पहचान भी क्या करेगा, जब कि उसने शुद्ध आदमी देखा ही नहीं। इस तरह की शंकाएँ हमारे पढनेवालों के मन मे उठ सकती है। इन शंकाओं का समाधान किये बगैर स्वाध्यायी की स्वाध्याय में रुचि नहीं हो सकती।

हमारा जी तो यह कहता है कि इन शंकाओं का समाधान न किया जाय, क्योंकि हमारा अनुभव है कि स्वाध्याय में इनका समाधान है और बहुत अच्छा समाधान है। हम जो समाधान करेंगे, वह उतना अच्छा नहीं होगा, जितना स्वाध्यायी की चेतना खुद करेगी। फिर भी पढ़नेवालों की खातिर कुछ कहेंगे ही।

जब नींद मे रहकर हम कामों के खोटे-खरेपन को परख लेते है और जाग-चेतना में आकर उसकी कसौटी तैयार कर लेते हैं, तो जाग-चेतना के कामों के खोटे-खरेपन को क्यों नहीं परख सकते। तथ्य, सत्य और असत्य में क्यों नहीं भेद कर सकते ? यह ठीक है कि आदमी को इस तरह की परख की आदत नहीं है। इतना ही नही, वह सपने की दुनिया में रहते रहते उसी दुनिया को सत्य और तथ्य समझने लगा है, इसलिए वह मिथ्या—असत्य को सत्य मान बैठा है। अब यह कैसे मान लिया जाय कि जब वह अपनी पहचान करने के काम मे लगेगा, तब वह क्यों नही असत्य और मिथ्या को सत्य और तथ्य समझने लगेगा।

आत्मचेतना की दुनिया के लिहाज से हम जाग-चेतना में रहकर कितनी ही बुरी दुनिया में क्यों न रहते हों, फिर भी आत्मचेतना की झाँकियों के कारण हमें तथ्य और मिथ्या में भेद करना जरूर आता है।

जरा सोचने पर, जरा चित्त को स्थिर करके ध्यान देने पर यह समझ मे आ जाता है कि मिथ्या या असत्य सिर्फ इतना ही नहीं है कि किसी सचाई को तोड-मरोडकर कहा जाय या उसके किसी अश को छिपाकर कहा जाय या सत्य को बिलकुल छिपाकर कहा जाय। यह भी ठीक है कि कुछ लोगों ने मिथ्या को सत्य मान रखा है, पर जहा यह ठीक है, वहाँ यह भी तो ठीक है कि कुछ लोग यह भी समझते हैं कि हम मिथ्या को सत्य माने हुए हैं और वह उस मिथ्यात्व को सिर्फ इसलिए नहीं छोडना चाहते कि कोई उनके सामने सत्य को रखता ही नहीं। क्या इस बात से यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि बहुत से मिथ्यात्वियों को सत्य से प्रेम है और जब सत्य से प्रेम है, तो यह नतीजा क्यों नहीं निकल सकता कि उनको कभी-न-कभी सत्य की झाँकी जरूर हुई है। यही तो हम शुरू से कहते आ रहे है कि आत्मचेतना हर आदमी को बराबर झाँकी देती रहती है। किसीको झाँकी की याद रहती है और किसीको नहीं। जिसको

याद रहती है, वह मिथ्यात्वी होते हुए भी सत्य का प्रेमी—सत्य का खोजी, सत्य को ग्रहण करने के लिए तैयार बना रहता है।

यह तो समझ ही लेना चाहिए कि मिथ्यात्व भी हमारे जीवन में बडा काम कर रहा है। मिथ्यात्व अपने-आपमें इतनी बुरी चीज नहीं, जितनी यह बुरी बात है कि आदमी नींद-चेतना या जाग-चेतना में रहकर मिथ्या को सत्य समझने लगता है या मिथ्या को मिथ्या कहना छोड देता है। अगर आदमी में यह बुराई न होती, तब तो स्वाध्याय का सवाल ही पैदा न होता।

इसमें कोई शक नहीं कि पूरा सत्य कभी दुनियादार के हाथ नहीं लगेगा; क्योंकि पूर्ण सत्य का नाम है—आत्मतत्त्व-चेतना यानी ज्ञान-चेतना यानी ज्ञान को ज्ञान की जानकारी, पर आत्मचेतना में रहकर आत्मतत्त्व-चेतना की झाँकी तो हो सकती है और वह कब कम है।

मिथ्यात्व की तह में पूर्ण सत्य

झूठ बोलने की बुनियाद कैसे पडी यानी मिथ्यात्व की तह में क्या चीज है? यह सुनकर हमारे पढ़नेवालों को अचरज होगा कि मिथ्यात्व की तह में है पूर्ण सत्य, पूरा सत्य, सौ टंच का सत्य। यह किस तरह? यह इस तरह कि पूरा सत्य तो न कभी किसीके हाथ आया, न आता है और न आ पायेगा, फिर भी पूरे सत्य को पा लेने की लालसा हम सबमें बनी हुई है और उन ऋषियों, मुनियों में, महापुरुषों में, जिनको हम अवतार कहकर मानते हैं, किसीको अंश-अवतार और किसीको पूर्ण-अवतार मानते हैं और कोई-कोई उनमें से किसी-किसीको साक्षात् भगवान् ही मान बैठे हैं, उन सबमें भी पूर्ण सत्य पाने की हम सबसे भी कहीं ज्यादा लालसा थी। उन संतों-महापुरुषों में से कोई हमारे सामने नहीं है। इसलिए हो सकता है कि हमारी इस बात में बोलचाल की भी पूरी सचाई न हो कि उन संतों, अवतारों और भगवानों ने कभी अपने-आप यह नहीं कहा होगा कि वह अवतार या भगवान् थे और यह कि उन्होंने पूर्ण सत्य को पा लिया था। अवतार और भगवान् का पद उनके सिर थोपने का काम उनके नासमझ भक्तों ने किया और उनके पूर्ण सत्य के

विज्ञानी का यह खयाल गलत है कि आत्मचेतना में जाने से आदमी बेकार या निकम्मा बन जायगा। जो दिन-रात काम करते रहते हैं, उनकी नजर में दर्शनकार और विज्ञानी निठल्ले-से नजर आते हैं, पर उनका एक-एक आविष्कार इतना काम कर डालता है और इतना कम समय लेता है कि उतने समय और उतने काम को सैकडो-हजारो आदमी मिलकर नहीं कर सकते। अब जिसकी बुद्धि की मदद से इतना काम हो गया, उसे निठल्ला कह डालना ठीक नहीं, इसलिए विज्ञानियों के लिए यह मान बैठने की जरूरत नहीं कि आत्मचेतना मे दाखिल होकर मानव-समाज उस आदमी से टोटे में रहेगा, जो अपनी जानकारी हासिल करना चाहता है।

हवाई मनोविज्ञान

स्वाध्याय और अपनी जानकारी पर हम इसलिए जोर दे रहे हैं कि उसके जरिये आदमी उस रास्ते पर आ जायगा, जो सत्य की ओर गया है। उस रास्ते में आविष्कार नहीं है, यह मानना बडी भारी भूल है। उस रास्ते मे विज्ञान नहीं है, यह मानना भी ठीक नहीं है। आत्मपठन खुद एक विज्ञान है, फिर उसे विज्ञान से क्यों घृणा होगी। स्वाध्याय पर हम इसीलिए जोर दे रहे हैं कि आदमी ने जाग-चेतना में रहकर असत्य, मिथ्या, अतथ्य और झूठ का महल खडा कर दिया और उसी महल पर मंजिल पर मंजिल चिने चला जा रहा है और वह यह समझता है कि यह उसका महल एक दिन स्वर्ग से जा लगेगा। और, वह देवताओं के शहर या देवताओं की दुनिया पर कब्जा कर लेगा और वह अपने उस महल को और भी ऊँचा ले जाकर ईश्वर से जा मिलेगा और फिर पता नहीं कि वह ईश्वर का दास बनेगा या ईश्वर का मालिक।

शेखचिल्ली की तरह आदमी ने जो हवाई महल बना रखा है, वह इसी असत्य पर तो बना रखा है कि स्वर्ग ऊपर है, नर्क नीचे है, ईश्वर कहीं सातवें आसमान पर अपना दरबार लगाये बडे कीमती तख्त पर बैठा है और फिर तुर्रा यह कि इस तरह की असत्य क्रियाएँ, जो आदमी के मन में चलती रहती हैं, इनकी जाँच-पड़ताल करने के लिए उसी आदमी ने एक विद्या खड़ी कर ली है, जिसका नाम मनोविज्ञान है।

मनोविज्ञान बुरी विद्या नहीं, उससे बड़े लाभ है; पर वह सिर्फ यही बता सकती है कि हमारे मन मे क्या-क्या होता रहता और मन कब किस तरह क्या सोचता है। स्वाध्यायी जब स्वाध्याय मे लगेगा, तो उसको भी वह सब क्रियाएँ देखने को मिलेंगी, जिनका जिक्र मनोविज्ञान ने किया है, पर स्वाध्याय इसलिए नहीं है कि आदमी इन मिथ्या क्रियाओं को खड़ा-खडा देखता रहे। वह तो उन क्रियाओ को रोकेगा और अगर न रुक पायेंगी, तो रोकने की कोई तरकीब निकालेगा और इस तरकीब के लिए वह जो कुछ करेगा, वही होगा अपने को पहचानना। बस, मनोविज्ञान और स्वाध्याय मे यही अन्तर है कि मनोविज्ञान हमारे अन्दर जो कुछ हो रहा है, उसे देखता, जानता और लिख डालता है। स्वाध्यायी उसे देखता है, उस पर राय कायम करता है, आदमी के लिए उसकी उपयोगिता ढूँढता है, उन क्रियाओं को वह नहीं चाहता कि वह अपने-आप होती रहें, इसलिए उनको रोकने की कोशिश करता है और फिर उन पर हर तरह का अधिकार जमा लेता है।

मनोविज्ञान उस पुलिसमैन की तरह है, जो कर्तव्य को बिलकुल नहीं समझता और लुटेरे को खुशी-खुशी माल लूटने देता है, रोकता नहीं है। स्वाध्यायी उस पुलिसमैन की तरह है, जो अपने कर्तव्य को समझता है और लुटेरों को अपनी मनमानी नहीं करने देता।

मनोविज्ञान झूठ का अध्ययन करता है और उसी अध्ययन से यह समझता है कि वह अपना अध्ययन कर रहा है। उस अध्ययन के आधार पर मनोविज्ञानी ने जिस आदमी को आदमी मान रखा है, असल में वह आदमी नहीं है, वह तो जानवर है, और तभी तो किसी मनोविज्ञानी की ही आदमी के बारे में यह परिभाषा है कि आदमी एक राजनैतिक जानवर है।

आज हर समझदार के मुँह से यही निकल रहा है कि इन्सान में इन्सानियत नहीं है। कवि भी इसीका साथ दे रहे हैं और सचमुच आज की दुनिया कब इन्सानों की कही जा सकती है? जब आदमी को आदमी से उन्स यानी मोहब्बत ही नहीं, तो इन्सान कैसा? फिर मनोविज्ञान ऐसे मन का हाल जानकर या चित्र

खींचकर क्या फायदा उठायेगा, फिर चाहे वह कितनी ही सचाई से वह काम क्यों न कर रहा हो।

मनोविज्ञानी और स्वाध्यायी मे अन्तर

रेल की लाइन निकालने के लिए सर्वे करनेवाले की बडी जरूरत होती है। सर्वे करना यानी यह पता लगाना कि रेल की लाइन के रास्ते मे कहाँ टीले हैं, कहाँ पहाड़ है, कहाँ गड्ढे है, कहाँ मुलायम जमीन है, कहाँ सख्त जमीन है, कहाँ नदियाँ है, कहाँ पुल बनाने होंगे और कहाँ रास्ते रखने होंगे। पर अगर तमाम उम्र यह सब आदमी सर्वे ही करते रहें, तो कभी रेल की लाइन तैयार न होगी। रेल की लाइन तो इजीनियरों की वह टोली करेगी, जो पहाडों को काटेगी, गड्ढो को भरेगी, नदियों को पाटेगी और उस पर रेल की लीक डालकर एक शहर को दूसरे शहर से जोड़ देगी। मनोविज्ञानी सर्वे करनेवाले कहे जा सकते हैं, पर स्वाध्यायी तो वह इजीनियर है, जो यह देखकर नहीं रह जाता कि मन कैसे-कैसे झूठे-झूठे पहाड़ खड़े करके और खाइयाँ खोदकर उस रास्ते में रुकावटें खड़ी कर रहा है, जो सत्य की तरफ गया है। वह उसको वैसा करने से रोकता है और अगर नहीं रोक पाता, तो रोकने की तरकीबें निकालता है और आखिर ध्यान की लीक डालकर सत्य तक पहुँचने की सड़क तैयार कर देता है।

मनोविज्ञान ने जिस आदमी को खड़ा किया है, वह नकली और झूठा आदमी है। स्वाध्यायी जिस आदमी को खडा करना चाहता है, वह होगा असली और सत्य आदमी। मनोविज्ञान का आदमी शरारती और दुःखी है। स्वाध्यायी का आदमी होगा भला और सुखी। एक तरह से मनोविज्ञान आदमी बनाता ही नहीं, वह तो जैसा आदमी देखता है, वैसा कह देता है। मनोविज्ञानी बताता है, बनाता नहीं। स्वाध्यायी बताता बहुत कम है, वह बनाता है। उसे विश्वास है कि आदमी भीतर से बहुत भला है, उस पर झूठ, असत्य, मिथ्यात्व का मैल जमा हुआ है। वह हटा कि असली आदमी चमकने लगेगा।

हिंदुस्तान पर जब अंग्रेजो का राज्य था और हिंदुस्तान और अमेरिका उन दिनों हवाई जहाज से इतना मिला हुआ नहीं था, जितना आज है। उन दिनों

अमेरिकावाले को हिंदुस्तानियों का पता अंग्रेजों से या अंग्रेजी किताबों से चलता था। उन्होंने उन्हीं किताबों के आधार पर हिंदुस्तानी आदमी का कुछ नक्शा और चित्र खींच रखा था और उसी चित्र के बल पर वह हिंदुस्तानियों के बारे में राय बनाया करते थे। पर जब हिंदुस्तान आजाद हुआ और हवाई जहाज से अमेरिका हिंदुस्तान एक हो गये, तो उनका सारा नक्शा और चित्र झूठा साबित हो गया और अजायबघर में रखने की चीज रह गया। ठीक इसी तरह स्वाध्यायी जब अपना सच्चा आदमी खड़ा करेगा, तो मनोविज्ञान का आदमी झूठा साबित होकर अजायबघर की चीज बन जायगा। कागज के फूलों से असली फूल की शकल का बहुत थोड़ा ज्ञान हो सकता है, पर फूल की गंध का तो भान भी नहीं हो सकता। मनोविज्ञान नकली आदमी का बहुत और थोड़ा बेतुका ज्ञान करा सकता है। असली आदमी का तो अन्दाजा भी नहीं लगा सकता।

आदमी के अन्दर क्या असली है और क्या नकली, जबतक इन दो को अलग-अलग न किया जाय, आदमी का अध्ययन नहीं किया जा सकता। आज के मनोविज्ञान की वह हालत कि वह उस औरत को मर्द ही कहे जायगा, जो दाढ़ी-मूँछ लगाकर मर्दाने कपड़ों में उसके सामने खड़ी है और उस मर्द को औरत ही कहे जायगा, जो जनाने कपड़ों में उसके सामने खड़ा है। स्वाध्यायी कपड़ों पर नहीं जाता, वह अपने अन्दर घुसकर असलियत की जाँच करता है, और इसीको वह अपनी पहचान मानता है।

समूचे आदमी को अध्ययन करने से धोखा हो सकता है, क्योंकि वह नकली ज्यादा है और असली कम। आदमियों की बहुत बड़ी तादाद ऐसी है, जिनमें असली और नकलीपन इतनी बुरी तरह से मिले हुए हैं कि उनको अलग करना स्वाध्यायी के लिए ही बेहद मुश्किल है, फिर मनोविज्ञानी तो वैसा कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह तो यही नहीं मानता कि आदमी असली और नकलीपन से मिलकर बना है।

आदमी दो तत्त्वों का

हमारे ऋषि आत्मचेतना के बल पर खोलकर बतला गये हैं कि आदमी

जो दिखाई देता है वह नहीं है। जैसा पैदा हुआ था, वैसा भी नहीं है। और हम सब भी आज अपने-अपने अनुभवों पर यह मानते हैं, देखते है और जरा कोशिश करें, तो साफ-साफ देख सकते है कि आदमी सचमुच एक तत्त्व का रहते हुए भी दो तत्त्व का बना हुआ हो गया है।

पुरुष-प्रकृति, ब्रह्म-माया, जीव-अजीव इन दो तत्त्वों को हम अगर बिलकुल न माने और एक ब्रह्मवाले की बात ही स्वीकार कर ले, तब भी स्वच्छ ब्रह्म और भ्रमवाला ब्रह्म, दो तो मानने ही पड़ेंगे। स्वाध्याय की हैसियत से हमें दलीलो में जाने की ज्यादा जरूरत नहीं। असली और नकली हर चीज दुनिया में देखने को मिलती है। सारी दुनिया असली और नकली का झमेला है, यह झमेला कभी खतम नही होगा। हम खतम करना भी नहीं चाहते। हमारी कोशिश तो इतनी भर है कि असली-नकली के काबू में न रहे, असली का अधिकार नकली पर हो जाय और इस दुनियादारी की सचाई को लेकर हम असली सचाई की तरफ बढ़ने की कोशिश करेंगे।

वास्तव में आदमी कुछ असली और कुछ नकली है। इन दो को हम तत्त्व और विभाग या जीव और पुरुष नाम से पुकारेंगे।

जीव और पुरुष

आदमी जब पैदा होता है, तो वह सौ में से पचानवे जीव होता है और पॉच पुरुष होता है। इस बात को समझने के लिए कुएँ से निकले हुए ताजे पानी से मदद मिलेगी। असली पानी ठण्डा होता है। असली पानी में कितनी ठण्ड रहती है, इसका ज्ञान किसीको नही है, विज्ञानी को भी नहीं है, पूरी ठण्ड का पता कभी लग ही नहीं सकता, पूरी गर्मी तक भी आदमी के ज्ञान की पहुँच नहीं है। जो पानी हमें मिलता है, वह ठण्डा गर्म होता है, जो आग हमे मिलती है, वह गर्म-ठण्डी मिलती है। पानी को ठण्डा करने और आग को गरम करने का रिवाज सारी दुनिया में फैला हुआ है और सब जानते हैं। अब लीजिये कुएँ के पानी को। वह पूरा ठंडा नहीं होता। काम चलाने के लिए हम मान लेते है कि कुएँ का पानी सौ मे से पचानवे अंश ठंडा होता है और पॉच अंश गरम

होता है। कुएँ के ताजे पानी से न बच्चे को नुकसान पहुँचता है, न बूढ़े को। वही पानी बहुत गर्म होकर बच्चे-बूढ़े दोनों को जला सकता है और वही पानी ठंढा होकर दोनों की उँगलियाँ गला सकता है। यही हाल आदमी के बच्चे का है। उसमें असलियत ज्यादा और नकलियत कम रहती है। इसी वास्ते उसे सब प्यार करते हैं; क्योंकि किसीको उससे नुकसान होने का डर नहीं रहता। बस, उस बच्चे में आप पंचानवे अंश जीव और पाँच अंश पुरुष मान लीजिये।

जीव और पुरुष क्या हैं और किस तरह काम करते हैं, यही स्वाध्याय का विषय है।

जीव वह है, जिसके बहुत अंश लेकर आदमी जन्म लेता है। अपनी मेहनत से आदमी कभी सौ अंश जीव बन जायगा, ऐसा न कभी हुआ, न होना है, न शायद हो सकेगा। अगर कोई मान ले कि ऐसा हो जाता है, तो इसका मतलब यह होगा कि पुरुष और प्रकृति, माया और ब्रह्म, जीव और अजीव दो अलग-अलग हो गये, यानी संसार और दुनिया खतम हो गयी। आदमी का यह आदर्श भले ही हो, पर उस तक वह पहुँच नहीं सकता और कल्पना से अगर हम पहुँचा हुआ मान लें, तो वह आदमी न रहेगा और हमारे काम का नहीं रहेगा।

पचानवे अंश जीव-रूप में पैदा होनेवाला आदमी अगर उतने ही अंश जीव बना रहे, तो दुनिया की सब झंझटें मिट जायँ, पर ऐसा कभी नहीं होता। वह पैदा होने के दूसरे क्षण से ही पुरुष बनना शुरू कर देता है और बड़ा होते-होते वह पाँच अंश जीव रह जाता है और पचानवे अंश पुरुष। बस, स्वाध्याय का यह काम है कि वह उसे ज्यादा नहीं, तो आधा-आधा जीव और पुरुष तो बना दे।

जिसे हम आत्म-चेतना कहते हैं, वह सब उसी जीव की कोशिश है, जो पुरुष में चमकता रहता है और जब-जब वह लहर आदमी में आती है, तब-तब आदमी एक क्षण के लिए पचानवे जीव और पाँच पुरुष बन जाता है और फिर वहीं-का-वहीं आ जाता है।

हमारे पढ़नेवालों की समझ में अब यह बात आ गयी होगी कि जीव वह, जो आदमी अपने साथ लेकर जन्मता है और पुरुष वह, जिसे वह अपने लिए कमाता है। जीव उसकी अपनी चीज है, पुरुष उसकी अपनी चीज नहीं,

अपनायी हुई चीज है। जीव न नष्ट हो सकता है, न बदल सकता है न उसको कोई हानि पहुँचती है। जो कम-ज्यादा होता है, वह है पुरुष। पुरुष को बदला जा सकता है, उसमे बडी-से-बडी क्राति की जा सकती है, उसके जन्म से साथ आये पॉच अशों मे से भी एक-दो अश की कमी की जा सकती है। कल्पना के जरिये पॉचों अश भी मिटाये जा सकते है, पर फिर वह तो होगी परमात्म-अवस्था और जिससे स्वाध्यायी को अभी कुछ लेना-देना नहीं।

जीव को और भी ज्यादा समझने के लिए हम यही कहेंगे कि वह पुरुष का आधार है और उस पुरुष की जो बौद्धिक बनावट है, वह सब उसीकी देन है। मन, मस्तक, बुद्धि सब उसीके है। पुरुष पॉच अश में होने की वजह से बढने की सबसे ज्यादा कोशिश करता है, जीव के लिए घटने-बढने का सवाल ही पैदा नहीं होता। स्वाध्यायी भी जीव को घटाने-बढाने की बात नहीं सोचता। ऐसा सोचना मिथ्या सोचना होगा। वह तो जीव में जीवत्व जगाता है और जीवत्व जागा और पुरुषत्व कम हुआ। पुरुषत्व जागा और उसने सारे जीव पर छा जाने की कोशिश की।

अब जागचेतना के माने हुए पुरुष का जीव के उतने अश पर छाये रहना, जितने अश पर वह फैल चुका है और आत्म-चेतना के माने हुए या तो उसको एकदम उस अश तक ढकेल देना, जितना वह पैदाइश के वक्त था या इस तरह का धक्का देना कि उसे अपनी मामूली जगह तक लौटकर आने में कुछ देर लगे। नींद-चेतना का यह मतलब हुआ कि पुरुष बाहरी दुनिया से नाता तोड़कर उसने जो देह बना रखी है, उसकी देखभाल में लगे।

पुरुष बढ़ता ही है

जीव से ज्यादा पुरुष को समझना जरूरी है, क्योंकि स्वाध्याय में सबसे ज्यादा इसीका मुकाबला करना पडेगा। जाने-अनजाने आदमी जो कुछ सीखता है, वह जीव नहीं सीखता, पुरुष सीखता है और पुरुष से दुनियादारी सीखता है। दुनियादारी यानी झूठ, असत्य, मिथ्या। दुनियादार तो बालक भी होता है, पर उसकी दुनिया आदमी की दुनिया से अलग होती है; क्योंकि उसमें अभी

पुरुष इतना ज्यादा फैला हुआ नहीं होता। यही वजह है कि बच्चे की ताकत सत्य-असत्य दोनों को ग्रहण करने के लिए बेहद तैयार मिलती है। उसे चाहे जिस ओर ले जाया जा सकता है। उसे किसी तरफ क्यों न ले जाया जाय, उसका पुरुष जरूर बढ़ता रहेगा। अन्तर सिर्फ इतना ही होगा कि असत्य की तरफ ले जाने से पुरुष ज्यादा बढ़ेगा और सत्य की तरफ ले जाने से पुरुष कम बढ़ेगा; पर बढ़ेगा जरूर। पुरुष को घटाने का काम स्वाध्याय के बगैर नहीं हो सकता। अब स्वाध्याय के माने हो गये जीव का अपने जीवत्व में आना और इसीको हम कहते हैं, आदमी का अपने-आपको पहचानना।

जाने-अनजाने हम कुछ भी करें, उसमें पुरुष बढ़ता ही रहता है, फिर चाहे वह स्वभाव का खाना हजम करने का ही काम क्यों न हो या गति का पाँव हिलाने का काम ही क्यों न हो। ऐसा क्यों होता है? उसकी वजह यह है कि आदमी के हर काम में पुरुष की मन-मस्तक-बुद्धि की रुचि या अरुचि में से कोई न-कोई जरूर शामिल रहती है। बच्चा चाहे सोचकर हाथ पाँव हिलाये, चाहे माँ की देखादेखी हाथ-पाँव हिलाये, दोनों उसके भीतर बैठे पुरुष की रुचि या अरुचि में से कोई-न-कोई जरूर मौजूद मिलेगी। आदमी के अन्दर बैठा हुआ पुरुष आदमी के जीवन का बड़े महत्त्व का और बड़ा दुखदायी अंश है।

जीव स्वभाव से तो भलाई-पसंद है और बुराई से भागता है, लेकिन पुरुष के साथ मिलकर उसका पैदाइशी स्वभाव विभाव में बदल जाता है और यही विभाव सुविभाव या कुविभाव कहलाने लगता है। जब आदमी का विभाव भलाई में लगता है, तब उसे सुविभाव कहा जाता है, जब बुराई में लगता है, तब उसे कुविभाव कहते हैं।

पुरुष विभाव-पसंद है और जीव स्वभाव-पसंद। जब पुरुष जीव को दबा देता है, तब विभाव जागता है और उस विभाव के हाथ या तो सत्य लगता है या मिथ्या। मिथ्या तो मिथ्या है ही। सत्य भी जो उसके हाथ लगता है, वह तथ्य नहीं होता। इसलिए आदमी का सत्य बदलता रहता है। हमने ऊपर ज्योतिष-विज्ञान का उदाहरण देकर इस बात को खोल दिया है कि आदमी का सत्य क्यों और कैसे बदलता है।

जब-जब आदमी तन्दुरुस्त होता है या ठीक अवस्था में होता है, तब-तब यह समझना चाहिए कि पुरुष का विभाव जीव के स्वभाव से दबा हुआ है। यहाँ यह हर्गिज नहीं समझना चाहिए कि उस वक्त आदमी आत्म-चेतना में होता है। जब-जब पुरुष जीव पर दबाव डालता है, तब-तब बीमारी उठ खड़ी होती है और आदमी को अपने-आप खराब चीजें खाने की रुचि हो उठती है।

दुनिया का सारा झमेला इसी जीव और पुरुष के आपसी रिश्ते पर चल रहा है और सब आदमियों ने इस रिश्ते को अपनी राह चलने के लिए छोड़ दिया है। मनोविज्ञान इस राह चलने की बात तो कहता है, पर उसको रोकने की बात नहीं कहता और इसलिए आज का मनोविज्ञान आदमी के लिए बहुत अधूरा है। इस अधूरेपन से बचने के लिए स्वाध्याय की जरूरत है।

स्वाध्याय का पहला काम होगा कि वह पुरुष को जीव के दबाव में ला दे और जैसे ही यह काम हुआ कि पुरुष चमक उठेगा और पुरुष से बेहद भलाइयाँ होने लगेंगी, जिससे आज मानव-समाज को बहुत नुकसान पहुँच रहा है।

दुनिया में रहने के लिए पुरुष बेहद जरूरी है, खाली जीव तो दुनिया के काम का ही नहीं। स्वाध्याय की गरज सिर्फ इतनी है कि वह पुरुष और जीव का ठीक-ठीक रिश्ता कायम कर दे। लड़ाई के मैदान में सिपाही बड़े काम की चीज है और बहुत जरूरी है, अकेले सेनापति से लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती; पर अगर सिपाही सेनापति के काबू के बाहर हो जायें, तो लड़ाई हारेंगे और बुरी तरह हारेंगे। या अगर दुश्मन से लड़ाई न छिड़ी होगी, तो अपने देश को ही लूट-लूटकर खा जायेंगे। इसलिए सिपाहियों का सेनापति के काबू में होना एकदम जरूरी है और यह काम करता है वह आदमी, जो फौजी अफसर नहीं होता। ठीक इसी तरह से स्वाध्याय के जरिये जीव को अपने स्वभाव की याद दिलायी जा सकती है और पुरुष पर उसका अधिकार बिठाया जा सकता है।

अपढ़-अज्ञानियों में, हो सकता है उनका पुरुष जीव के वश में हो। पर उनका वश मे हुआ पुरुष इतना निकम्मा पुरुष होता है कि वह कितने ही भले और होशियार क्यों न हों, अपनी उन्नति नहीं कर सकते, क्योंकि वह स्वाध्याय की बात कभी सोच ही नहीं सकते। स्वाध्याय के लिए भी आदमी का पुरुष चाहे

आदमी उसे अलग-अलग रिश्तों के साथ देखकर उसके चार होने में आसानी से विश्वास कर सकता है। बस, मन, मस्तक भी इसी तरह चार हो जाते हैं। सोचनेवाला मन कुछ और ही होता है, भावों से भरा मन कुछ दूसरा ही होता है, स्वभाव के काम करनेवाला मन कोई तीसरा ही होता है। सभीके लिए हम मन को केन्द्रों में बाँटे देते हैं। हरएक के केन्द्र को पूरी स्वाधीनता दिये देते हैं। सुभीते के खातिर देह के बँटवारे किये देते है और एक-एक हिस्सा एक-एक केन्द्र के मातहत किये देते हैं और हर केन्द्र के सुपुर्द उसकी उन्नति का काम सौंपे देते हैं।

केन्द्रों से हमारा मतलब है, उनका ढाँचा, उनकी पात्रता, उनका बुरा-भलापन और सबके आखिर में उनका जीव से संबध। इन केन्द्रों में जो कुछ है और जो कुछ वह प्राप्त करेंगे, वह सब होगा पुरुष का। अब रहा यह कि इन केन्द्रों के पास क्या है? इस बात को हम आगे कहीं कहेंगे।

हम पहले कह चुके है कि आदमी की उन्नति के लिए पुरुष इतना ही जरूरी है, जितना जीव। हमारी शर्त सिर्फ यही है कि जीव और पुरुष में ठीक-ठीक रिश्ता बना रहे। पुरुष बढवारी चाहे जितनी करे, पर रिश्ते में कोई गडबड़ी न करे। रिश्ते में गड़बड़ी करने से दुनियादारी का संतुलन बिगड जाता है और सुखी दुनिया दुखी दुनिया बन जाती है। पर इस रिश्ते के ठीक-ठीक बने रहने की आदमी की इच्छा को पुरुष कभी पूरी नहीं होने देता। पुरुष ने अपने सबध में बड़े खोटे विचार बना रखे हैं। वह हमेशा इस कोशिश मे रहता है कि जीव की वफादारी से अपना पीछा छुडाये। उधर जीव का यह हाल है कि वह कभी पुरुष की पर्वाह नहीं करता। उसे अपनी ताकत का सच्चा ज्ञान है। बस, उसी भरोसे पर बेफिक्र बना रहता है। और, अगर स्वाध्याय से आदमी अपनी पहचान न करे, तो पुरुष भटकता हुआ जीवन बिताकर मानव-सगठन को खतम कर देता है, और फिर दुबला होकर जीव के साथ वफादार बनकर नया सगठन रच लेता है। पुरुष अनेक बार हार खाकर भी कभी इस आदत को नहीं छोडता। वह जीव का मालिक बनने की सोचता है। यही मूल कारण है कि वह सत्य से भागता है। सत्य उसके नुकसान की चीज

है या फायदे की चीज, यह पुरुष नहीं समझता। यह समझता है जीव, और जीव पुरुष को समझाने के लिए अपना वक्त नहीं देना चाहता। वह आत्म-चेतना की उन लहरों को बिलकुल काफी समझता है, जो वक्त-वक्तपर भेजता रहता है। उसे खूब मालूम है कि पुरुष उसके साथ बगावत करके किस हद तक जा सकता है। उसे यह भी मालूम है कि उस-उस हद के परे उसका पतन और एकदम पतन है और उस हदतक पतन है, जहाँ तक दुनिया के बने रहने की जरूरत है।

अपने को पहचानना

अपने को पहचानने की बात बहुत पुरानी है। अपने को पहचानने से किसीको इनकार भी नहीं। लोगों ने अपने को पहचानने का अर्थ लगा रखा है, अपने विभावों को पहचानना, अपनी उन आदतों को पहचानना, जो हममें जड़ पकड़ रही हैं। हममें क्या विशेषताएँ हैं, हमारी क्या इच्छाएँ और आकांक्षाएँ हैं, हमारी क्या रुचियाँ और अरुचियाँ हैं, हमारी क्या पात्रता और क्या इरादे हैं, यह सब जानना अपने को पहचानना नहीं कहलाता और आज के मनोविज्ञान ने यही काम ले रखा है। इन बातों के जानने का नाम स्वाध्याय नहीं है। स्वाध्याय की मंशा है, इस बात को अच्छी तरह से समझ लेना कि हमारा तन, मन, मस्तक, बुद्धि सब आदमी नामी मशीन के पुर्जे हैं और इस मशीन से जो काम ले रहा है, वह इस मशीन मे हर जगह मौजूद है और अपना निर्मल स्वभाव लिये इस मशीन से एकदम अलग है। तिल में रहनेवाले तेल की तरह सब जगह मौजूद भी है और अलग भी है।

मशीन को मशीन की तरह अध्ययन करना होगा। मशीन के कुछ पुर्जे मोटे और कुछ बहुत बारीक होते हैं। आदमी की मशीन के मन, मस्तक, बुद्धि नाम के पुर्जे बडे बारीक हैं। उनका काम बिलकुल ऐसा मालूम होता है, मानो वही आदमी हैं। ग्रामोफोन गाता है, पर समझता नहीं। कुछ ऐसा ही हाल मन, मस्तक, बुद्धि का है। यह तीनों आदमी के लिए ऐसे-ऐसे काम कर डालते हैं कि आदमी इन्हींको सब कुछ मान बैठा है। इसी भूल को मिटाने के लिए हम स्वाध्याय पर जोर देते हैं।

ज्यादा अंशों में जीव पर छाया हुआ न हो, पर अच्छी परिस्थितियों में बुद्धिमान् मिलना जरूरी है।

जीव और पुरुष में कुछ ऐसा रिश्ता है कि जीव बहुत कम पुरुष पर दबाव डालने की सोचता है और उसकी वजह शायद यह हो सकती है कि जीव बेहद ताकतवर है। वह ईश्वर ही है, इसलिए पुरुष की लगाम खूब ढीली छोड़ देता है और अगर वह ऐसा न करे, तो शायद दुनिया का सिलसिला ही खतम हो जाय। पर जब आदमी पुरुष की बेजा बढ़वारी से घबरा उठता है, तब वह अन्दर की तरफ निगाह डालने के लिए मजबूर होता है।

हमारे पढ़नेवाले यह न समझ बैठें कि पुरुष और जीव से आदमी कोई अलग तीसरी चीज है। यह तो सिर्फ कहने के खातिर कहा जा रहा है। जब भी हम स्वाध्याय की बात कहते हैं, तब उसके पीछे जीव की ही आत्म-चेतना की किरण रहती है। असल में सब कुछ जीव ही का किया हुआ होता है, पर उस सबको पुरुष अपना मानकर करता है और जीव की तरफ से अपनी जवाबदेही हटा लेता है।

बचपन में अगर पुरुष तेजी से बढ़ने लगे, तब जीव बहुत दब जाता है और नतीजा यह होता है कि इस तरह बढ़े हुए आदमी और औरत किन्हीं बातों में पूरे जवान दिखाई देते हैं और किन्हीं बातों में दस बरस के बच्चे से कम।

आज की तालीम पुरुष के बढ़ाने में जुटी हुई है। जीव की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। सजा, इनाम और होड़ पुरुष के बढ़ाने में बड़ी मदद कर रहे हैं। युनिवर्सिटियों में खेले जानेवाले खेल और नाटक पुरुष को तो काफी बढ़ा देते हैं, पर जीव का जरा-सा भी फायदा नहीं करते और फिर युनिवर्सिटी से निकले हुए विद्यार्थियों का यह हाल हो जाता है कि वह अपने जीव को जरा भी आगे नहीं बढ़ा सकते। उनके पुरुष ने जीव को अधिकार में कर रखा होता है, इसलिए वह दुनिया में न अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं और न अपना भला आप कर सकते हैं। उन्हें या तो नौकरी करनी पड़ती है या भले बनने के लिए ऊँचे दर्जे के ग्रंथ पढ़ने पड़ते हैं, क्योंकि अपने पैरों पर खड़े होने के लिए और अपने-आप भले बनने के लिए यह बिलकुल जरूरी है कि आदमी का

जीव आदमी के पुरुष पर हावी हो। और यह काम स्वाध्याय से हो सकता है। और क्या ही अच्छा हो, अगर युनिवर्सिटियाँ अपने यहाँ ही बालकों में स्वाध्याय की आदत डाल दें। ऐसा करने से जीव और पुरुष के रिश्ते में जो असमता आ गयी है, वह ठीक हो जायगी और दुनिया में जो आज अनैतिक अव्यवस्था छायी हुई है, वह अपने-आप ठीक हो जायगी।

यहाँ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जीव का सबंध सिर्फ उस हड्डी-मास के सगठन से है, जो आदमी नाम से पुकारा जाता है। उसका सबध मन, मस्तक और बुद्धि की उन सब क्रियाओं से है, जो उस सगठन के अन्दर चलती हैं।

मन, मस्तक और बुद्धि

हमने पहले मन, मस्तक और बुद्धि का जिक्र किया है और उसी सिलसिले में विचार, भाव, स्वभाव और गति का भी जिक्र किया है। वहीं हमने यह भी बताया है कि हमारे विचार और मनोभाव उस मस्तक की देन नहीं हैं, जो भूरे रग का मसाला है और हमारी खोपडी में भरा हुआ है या जो अनगिनत गॉठोंवाली चादर का बना हुआ है। वह मस्तक या भेजा औजार तो जरूर है, पर कर्ता नहीं। आँख देखने का उपकरण है, देखना उसका काम नहीं। देखना जिसका काम है, वह है जीव की चेतना। चेतना और आत्म-चेतना में क्या अन्तर है, इसे हम खूब विस्तार से पहले ही बता चुके है। यहाँ उसको खोलने की जरूरत नहीं। यहाँ तो हमें यह कहना है कि आत्म-चेतना से पाये हुए बल के सहारे हमारा मन, मस्तक और बुद्धि सिर्फ सोचते-विचारते ही नहीं हैं, भावों, स्वभाव की क्रियाओं और गति के कामों में भी अपना हाथ रखते हैं। सिर्फ समझने के खातिर एक तरह से हमारा मन एक नहीं, चार है। यही हाल हमारे मस्तक और बुद्धि का है। इस पर आगे कुछ कहने के पहले एक उदाहरण दे दें। जैसे आदमी तो एक ही होता है, लेकिन वह अपनी माँ का बेटा होने से, अपने बेटे का बाप होने से, बहन का भाई होने से, और स्त्री का पति होने से चार आदमी हो जाता है और चार आदमी होकर वह सचमुच चार तरह का काम करता है, वह अन्दर-बाहर हर तरह चार बन जाता है। दूसरा

स्वाध्याय से हमारा मतलब है, अपने भीतर होनेवाली क्रियाओं को खूब गौर से देखना और समझना। यह काम हमको खुद ही करना होगा। गौर करने और समझने से हमारा मतलब है कि मन, मस्तक और बुद्धि की अलग-अलग क्या क्रियाएँ हैं। नींद-चेतना में यह किस तरह काम करती है, जाग-चेतना में इनका क्या होता है और आत्म-चेतना में यह अपना काम किस तरह करती हैं। हमे यह भी समझना होगा कि हम है तो एक, फिर हममें यह तरह-तरह के अनेकों एक कहाँ से आ गये। एक ही साथ एक एक कुछ करता है, दूसरा एक कुछ।

कुछ ही दिनों के स्वाध्याय से आदमी को ऐसा मालूम होने लगेगा कि वह अपने अन्दर के कुछ विचारों से प्यार करता है, कुछ की तरफ से बेपर्वाह रहता है, कुछ को बहुत बुरा समझता है। कुछ से वह डरता है, कुछ से दुःख मानता है, कुछ से चिढ़ता है। उसे बिलकुल ऐसा मालूम होने लगेगा कि उसके अन्दर 'अह' की एक भीड़ काम कर रही है। पहले-पहल स्वाध्याय का काम बड़ा अरुचिकर मालूम होगा। क्योंकि वह इन कामों से कोई मेल नहीं खाता, जिन कामों के करने की आदमी को आदत पडी हुई है। विज्ञान की हरएक शाखा बाहर की चीजों की जाँच करती है। उनका हमसे आत्मीय संबध नहीं होता। इसलिए जो तरीका हम उनकी जाँच के लिए काम मे लाते है, वह तरीका स्वाध्याय मे काम नहीं आ सकता। अपने बेटी-बेटे अपने से अलग होते है, फिर भी उनके साथ थोडा-बहुत अपनापन लगा रहता है। इस थोड़े अपनेपन की वजह से कोई वैद्य अपने बेटी-बेटों का इलाज करते हुए घबराता है और हरएक जज अपने बेटी-बेटों का इन्साफ करते हुए हिचकिचाता है। अपने बेटी-बेटों के साथ दूकानदारी भी नहीं हो सकती। जब हमसे अलग अपनों के साथ हम पक्षपात किये बिना कोई काम नहीं कर सकते, तब उस तन, मन, मस्तक और बुद्धि के साथ जाँच के वक्त पक्षपात से कैसे बच सकेंगे, जो जन्म से हमारे साथ लगे हुए हैं और जिनके बारे में हमारा खयाल है कि वह सब ही तो हम है।

अभ्यास से इस मुश्किल का भी हल निकल आयेगा। स्वाध्याय के बाद कुछ ही दिनों में आदमी को यह पता चल जाता है कि उसमें क्या-क्या बुराइयाँ

और क्या-क्या भलाइयाँ है। अन्दर की बुराइयों और भलाइयों से हमारा मतलब है, उन बुराई-भलाइयों से, जो हमारे आत्मज्ञान में रुकावट या सहायक होती हैं। उन्नति करनेवाले सब काम भले, आत्म-चेतना जगानेवाले सब काम भले। कुछ ही दिनों में आदमी को यह पता लग जाता है कि उसका कौन-सा पहलू जल्दी से चेतनामय हो सकता है यानी चेतना पाकर चेतन बन सकता है। और कौनसा पहलू किसी तरह भी चेतन नहीं हो सकता। जैसे ही उसे इस बात की तमीज हो जाती है, वह उस पहलू से पहले असहयोग करता है और फिर उसे निकाल बाहर करता है। स्वाध्याय करते-करते उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि वह कुछ आगे बढ़ रहा है और यह जानकारी उसकी बड़ी सहायक होती है।

बुराइयाँ कैसे दूर की जायँ ?

अब देखना यह है कि आदमी के अन्दर बुरे पहलू कौन-से हैं और उनमें जो बुराइयाँ हैं, वे किस तरह की है और कैसे दूर की जा सकती हैं।

यह हम पहले ही जान चुके हैं कि आदमी सिर से पाँव तक मशीन है। मशीन में मशीन की तरह काम करने की रीति ही सबसे बडी बुराई है। आदमी मशीन है, पर जड़ मशीन नहीं, चेतन मशीन है। आदमी चेतन मशीन है, पर वह अपने को चेतन मशीन नहीं समझता, वह अपने को जड मशीन मानता है। स्वाध्याय उसको जड मशीन मानते रहने से रोकता है और इसीसे आदमी दु:ख मानता है।

रामायण और महाभारत अगर अध्यात्म ग्रंथ मानकर पढ़े जायँ और उनको पढ़कर स्वाध्याय में लगा जाय, तो बिलकुल ऐसा मालूम होने लगेगा, मानो हमारे अन्दर ही राम-रावण युद्ध हो रहा है और हमारा मन ही कुरुक्षेत्र बना हुआ है। स्वाध्याय से बहुत जल्दी आदमी को यह पता लग जाता है कि उसके अन्दर एक अहं नहीं, अनगिनत अहं काम कर रहे है और एक-दूसरे से विपरीत। मशीन के पुर्जे गिनती में कितने ही हों, पर मिलकर तो काम करते है और मशीन का एक खास तरह का काम होता रहता है। पर आदमी नामी चेतन मशीन के पुर्जे चेतन होने की वजह से गुट बना बैठते हैं। कुछ रावण

से जा मिलते हैं, कुछ राम से और लडाई खडी कर देते हैं। मन के अन्दर कभी लका का मैदान वन जाता है, कभी कुरुक्षेत्र का और आदमी स्वाध्याय में लगकर मन-मस्तक के धोखे में आकर अर्जुन वन वैठता है और अर्जुन भी ऐसा अर्जुन, जिसने लड़ाई के मैदान मे तीर-कमान फेंक दिये थे। अब बड़ी मुश्किल खड़ी होती है। स्वाध्याय में वरावर लगे रहने से वही स्वाध्यायी, जो अर्जुन था, कृष्ण वन जाता है और मुश्किल हल हो जाती है।

बुराई ही दुनियादारी

आदमी नामी चेतन मशीन में सबसे बडी बुराई है असत्य बोलने की, मिथ्या समझने की, झूठमय रहने की। जिसे हम बुराई कह आये हैं, वही दुनियादारी है। यही दुनियादारी हमें अपने को पहचानने नहीं देती। अगर हमअपने को पहचान लेंगे, तो क्या दुनियादारी खतम हो जायगी? नही, बिल्कुल नहीं। दुनियादारी का रूप वदल जायगा। आज की दुनियादारी वेईमानी की दुनियादारी है और दुखदायी है। जब हम अपने को पहचान लेंगे, उसके वाद की दुनियादारी ईमानदारी की दुनियादारी होगी और सुख देनेवाली होगी।

स्वाध्याय का यह मतलब हरगिज नहीं है कि हरएक आदमी अलग-अलग पत्थर की मूरत बन जायगा और ऐसे ही वैठे रहेगा, जैसे मंदिर में पत्थर की मूर्तियाँ धरी रहती हैं। अगर स्वाध्याय से ऐसा होनेवाला होता, तो स्वाध्याय से निकम्मी कोई दूसरी चीज नहीं हो सकती। स्वाध्याय आदमी में वल लाने के लिए है और उस वल मे ज्ञान-बल का ही सबसे ज्यादा हिस्सा है और ज्ञान के वरावर सुख देनेवाली, दूसरी कोई चीज नहीं। कवियों ने जिस ज्ञान को दुःख देनेवाला कहा है, वह आत्म-ज्ञान नहीं, पर-ज्ञान है यानी मिथ्या ज्ञान। वह ज्ञान ही नहीं, ज्ञान का विभाव है। अज्ञान के माने अगर विलकुल ज्ञान न होने के हैं, तो वह दुखदायी नहीं हो सकता, जड़ पदार्थ को कोई दुःख नहीं होता। हाँ, अगर अज्ञान का मतलब कुज्ञान है, तो वह दुखदायी है और स्वाध्याय उसी अज्ञान को दूर करने के लिए किया जाता है, जो कुज्ञान है।

आदमी नामी मशीन में सबसे बड़ी बुराई यही है कि उसने असत्य को

अपना रखा है, वह असत्य, जिसे झूठ भी कहा जा सकता है। यह पहले कह आये हैं कि झूठ दुनियादारी के लिए बेहद जरूरी है। पर जो झूठ जरूरी है, वह स्वाध्याय में बाधक नहीं होता। जो झूठ स्वाध्याय में बाधक होता है, उसीको आदमी को समझना है। उसीको दूर करना है। उसीके दूर होने से आदमी को फायदा होगा और उसीके दूर होने से आदमी अपने-आपको पहचान सकेगा।

स्वाध्याय के सिलसिले में जिस झूठ की बात हम कहना चाहते हैं, वह यह है—आदमी एक बात नहीं जानता है और न जान सकता है और फिर उसके बारे में वह इस तरह कहे, मानो वह जानता है और जान सकता है।

यही वह झूठ है, जिसे हम बुरा समझते हैं, वह स्वाध्याय में रुकावट है।

व्यवहार मे जो झूठ-सच चल रहा है, उसको हम बिलकुल नही छेड़ना चाहते। यह तय करना मुश्किल है कि अपने-आपमें कौन चीज अच्छी और कौन बुरी होती है। इस वक्त हम व्यवहार को ध्यान में रखकर यही कहना चाहते हैं कि आत्मोन्नति के रास्ते में कौन चीज फायदे की है और कौन नुकसान की।

स्वाध्याय में लगकर आदमी को इस बात का पता जल्दी लग जायगा कि कौन काम बुरा है, उसको यह भी पता लग जायगा कि कौन क्रिया काबू में रखने से इतनी निर्बल हो जाती है कि ज्यादा नुकसान नहीं पहुँचा सकती। वही क्रिया अगर काबू से बाहर हो जाय, तो बहुत नुकसान पहुँचाने लगती है।

स्वाध्याय के बल पर आदमी को यह ज्ञान हुआ नहीं कि उसने झूठ बोलना छोड़ा या कम-से-कम छोड़ने की बात सोची। यहाँ नीति-अनीति का सवाल नहीं है, सवाल है, काबू में रहने-न-रहने का। फौज में सिपाही सब-के-सब भले नहीं हुआ करते, पर उनको भले न होने की वजह से बरखास्त नहीं किया जाता। हाँ, उन्हें काबू से बाहर होते ही फौज से निकाल दिया जाता है। स्वाध्याय में अगर यह बर्दाश्त कर लिया जाय कि झूठ हम पर शासन करता रहे, तब स्वाध्याय के रास्ते में एक कदम आगे नही बढ़ा जा सकता।

ज्योतिष का हम पहले जिक्र कर आये हैं। अगर नये ज्योतिषी पुराने असत्य

सिद्धांतो को पकड़े रहते, तो उन्नति की राह पर एक कदम आगे न बढ़ पाते। अगर आदमी आज उन असत्य सिद्धान्तों पर अड़ा रहेगा, जिनको न वह जानता है और न जान सकता है, तो स्वाध्याय का काम किस तरह आगे बढ़ेगा ?

झूठ एक ऐसा ऐब है, जिसे सबसे ज्यादा ध्यान में रखना होगा। स्वाध्याय के रास्ते में कदम-कदम पर इससे भेंट होगी और इससे मुकाबला करना पड़ेगा।

असत्य की बेटी कल्पना

झूठ से लगी हुई एक दूसरी चीज और मिलेगी, वह है बुद्धि की उड़ान। जिसने दर्शन नहीं, अनेक दर्शनों को जन डाला। कवियों की वह बड़ी प्यारी है। कवियों की कविता उसीके बल पर चमक उठती है। अपने को न पहचाननेवाले सभी आदमी उस कविता में बहुत रस लेते हैं, जो बुद्धि की उस उड़ान से भरी रहती है। उसका नाम है कल्पना। यह ऐसी बुरी बला है कि उससे बचना बहुत मुश्किल है। मनोविज्ञानी यहाँ तक मान बैठे हैं कि यह मन की खुराक है। मनोविज्ञानियों की इस बात को लगभग हर आदमी ने ठीक मान लिया है, इस-लिए वह कल्पना में डूबने में आनन्द मानता है। कविता, जो कल्पना की खुराक पाकर फलती-फूलती है, अनपढ़ों को भी ऐसी भली मालूम होती है, जैसे पढ़े-लिखों को। आजकल तो लोक-गीत के नाम से अनपढ़ों की कविता संग्रह करने का रिवाज चल पड़ा है। इसीसे अन्दाजा लगाया जा सकता है कि कल्पना आदमी के साथ कितनी एकमेक हो गयी है। उस कल्पना से पीछा छुड़ाना कितना मुश्किल होगा, स्वाध्यायी को यह बात अच्छी तरह ध्यान में रख लेनी चाहिए।

कल्पना में सबसे बड़ी बुराई यह है कि यह आदमी को पक्षपाती बना देती है और आदमी सारे विषय छोड़कर उसी विषय में लग जाता है, जिसे कल्पना ने उसके मस्तक में खड़ा कर रखा होता है। कल्पना स्वाध्यायी को एकदम भुला देती है कि वह कल्पना को देखने और जाँचने आयी है। कल्पना स्वाध्यायी के जाँच का विषय न बनकर स्वाध्यायी को अपने जाँच का विषय बना लेती है। और फिर स्वाध्यायी कल्पना की तारीफ करने लगता है, उसीको बुद्धि,

चेतना और ईश्वर कह बैठता है। सृजन-शक्ति कल्पना में है, यह भी कवियो की कल्पना है। विवेक-शक्ति कल्पना मे है, यह भी कवियों की सूझ है।

स्वाध्याय मे लगा हुआ आदमी अगर झूठ और कल्पना के असर से बच सके, तो वह जान जाता है कि कल्पना सबसे ज्यादा जीव के प्रभाव की नाशक है और पुरुष की दासी है। कल्पना पुरुष के प्रभाव को सारे जीव पर छाने की कोशिश करती रहती है। जिस तरह जीव का प्रभाव सारे आदमी पर छा जाने से दुनिया बाकी नहीं रह जाती, वैसे ही कल्पना को बगल मे दबाकर पुरुष का प्रभाव सारे जीव पर छा जाने से दुनिया बाकी नहीं रह पायगी।

स्वाध्यायी कल्पना से भेंट करने के बाद पहले तो यही समझता है कि यह कभी काबू में नहीं आ सकती और यह कि यह मुझे जिधर चाहे घसीटे-घसीटे फिरेगी, यह कभी मेरे पीछे चलनेवाली नहीं। स्वाध्यायी को साफ मालूम होने लगता है कि यह मुझे उस तरफ नहीं जाने देती, जिधर मैं जाना चाहता हूँ। यह उधर ले जाती है, जिधर यह जाना चाहती है। कल्पना झूठ से पैदा है, यह हम पहले कह चुके हैं। इसलिए झूठ से ज्यादा बुरी है। अगर दूसरे से झूठ बोलना बुरा है, तो अपने से झूठ बोलना हजारगुना बुरा है। और कल्पना क्या है? कल्पना माने आदमी का अपने खुद के लिए झूठ बोलना। स्वान्त सुखाय की बडी तारीफ है। स्वांतःसुखाय के माने है अपने मन, बुद्धि और मस्तक को खुश करना और यह तो आत्मज्ञान से कोसो दूर भागना है। यही कारण है कि आत्मज्ञान सम्बन्धी सारा साहित्य श्लोकबद्ध है। यह काम उन लोगों का नहीं हो सकता, जो आत्म-चेतना में निवास करते थे। यह काम हो सकता है उन लोगों का, जो जाग-चेतना की शुरू की सीढियो पर खडे थे। हाँ, सूत्र-ग्रथ उन लोगों के कहे हुए हैं, जो जाग-चेतना की सबसे ऊपर की सीढी पर खड़े थे। हो सकता है कि हर सूत्र के बाद वह आत्म-चेतना की पहली सीढी को छू लेते हो और उसके बाद दूसरा सूत्र कहते हों।

अपनी बनायी कल्पना की दुनिया में

कल्पना हवाई और झूठे महल बनाती है और अगर वह उन्हीं महलो मे घूमे, फिरे, बैठे, सोये तो बुरा नहीं, पर इतनेभर से उसकी तसल्ली नहीं होती।

वह चाहती है कि सारा-का-सारा आदमी उसीमें निवास करे। नतीजा यह होता है कि आदमी कल्पना की मदद से हौआ बनाता है और डरता है। भूत, प्रेत और जिन्न बनाता है , उनसे डरता और डराता है। एक ऐसा देवता तैयार करता है, जिसका वह दास बन जाता है; यहाँ तक कि उसीको वह अपना बनानेवाला मान लेता है।

नींद-चेतना में जब वह सपने देखता है, तब उसे यह नहीं मालूम रहता कि वह वहाँ अकेला है। कल्पना से बनायी अपनी दुनिया को स्वप्न में भी वह अपने से अलग मानता है। तभी वह उनमें से किसीसे डरकर भागता है और किसीको प्यार से गले लगाता है। वह अपनी कल्पना का इतना दास हो जाता है कि यह तक उसे याद नहीं रहता कि जैसे स्वप्न की सुंदरी, जिसे वह गले लगाये हुए है, उसकी बनायी हुई है, वैसे ही स्वप्न का वह शेर, जिससे वह डरता है, उसीका बनाया हुआ है।

यह है कल्पना नाम की वह बला, जिसे हम काबू में करने की बात कह रहे हैं। अभी छोडने की बात नहीं, क्योंकि छोडने का काम बेहद मुश्किल है। कल्पना को काबू में कर लेने से अपने को पहचानने में काफी मदद मिलेगी और आगे का रास्ता निकल आयेगा।

नकार भाव

मन में जो भाव उठते हैं, वे सब एक तरह के नहीं होते, कुछ दुखदायी होते हैं और कुछ सुखदायी। दुखदायी भावों से हमारा मतलब है हिंसा के भाव, चिंता के भाव, क्रोध के भाव, भय, सदेह, दाह इत्यादि के भाव। स्वाध्याय के मार्ग मे, ऐसे दुखदायी भावों को, हम नकार भाव कहकर पुकारेंगे। यह नकार भाव हमें सचाई से एकदम दूर फेंक देते हैं और लोग समझते यह हैं कि यह भाव सचाई से पैदा हुए हैं। भला इन भावों का सचाई से क्या सरोकार ? हमारा चित्त उमड कर जो आँसू निकलते हैं, उन्हें अगर सचाई का देन मान ले, तब तो मोह को सत्य नाम से पुकारना पड़ेगा। और चूँकि सत्य ईश्वर का नाम है, इसलिए मोह ईश्वर हो जायगा। मोह आदमी की कमजोरी है, आदमी

का बल नहीं। जो आदमी अपने दुःखों को अपने-आप दूर नहीं कर सकता, जो आदमी अपने दुःखों पर आप काबू नहीं पा सकता, उसका हृदय उमड़ने लगता है और पानी बनकर आँखों की राह निकलने लगता है। आज का मनोविज्ञान इन सब घटनाओं का वर्णन तो करता है, पर न इससे बचने का उपाय बताता है, न यही कहता है कि यह नकार भाव है।

नकार भावों का संबध आदमी की कमजोरी से

स्वाध्यायी को, जैसे ही वह इन नकार भावों का मुकाबला करता है, यह पता लग जाता है कि ये नकार भाव सचाई से कोई संबध नहीं रखते। सचाई से पैदा होने की बात तो एक ओर, स्वाध्यायी पूरी तरह से जान लेता है कि इन नकार भावों का सबध आदमी की कमजोरी से है और ये सब भाव उसी कमजोरी की औलाद हैं। जैसे ही स्वाध्यायी को यह पता चलता है, वैसे ही वह उनका कोरा दर्शक बना रहना पसन्द नहीं करता। उनको रोकना जरूरी समझने लगता है, रोकने लगता है। क्योंकि बगैर रोके आगे बढ़ने और देखने का रास्ता ही नहीं। ये नकार भाव इतनी तेजी से आते हैं और इतने चुपके से पैदा होते है कि हर आदमी यह समझ नहीं पाता कि ये भाव भी उस राह की रुकावट बन सकते है, जो सत्य को गयी है, या इन नकार भावों की वजह से ऐसा भी हो सकता है कि आदमी अपने 'स्व' को न जान पाये।

उद्‌गारों और बातों में फँसने से बचना

इन नकार भावों को सच्चा और अच्छा समझकर अपना लेने से एक नयी आफत खड़ी हो जाती है। यह किसने नहीं देखा कि औरतें शोक के आँसू निकालकर नहीं रह जातीं, अपना सिर और छाती पीटकर भी नहीं मानतीं कि उनका शोक-दिखावा पूरा हो गया, वे साथ-साथ अपने मुँह से शब्दों का रूप लिये हुए उद्‌गार निकालती है और ये उद्‌गार दूसरी बला हैं, जो स्वाध्याय के रास्ते मे ऐसी बुरी तरह आ अटकते है कि हटाये नहीं हटते। उद्‌गार अपने-आप कोई बुरी चीज नहीं, बुरा है उद्‌गारों के साथ बह जाना और जहाँ आदमी उद्‌गारों को लेकर बातों में लगा कि अपनी याद भूला। चला था नदी

का सोता देखने, पर पानी के एक रेले से वहने लगा उधर, जिधर जाकर पानी का सोता कभी न देख पायगा। इसलिए स्वाध्यायी को उद्गारों में फँसकर बातों मे लगने से बचने की जरूरत है। इतना तो यहाँ समझ ही लेना चाहिए कि यह बिल्कुल जरूरी नहीं कि बातें उसी वक्त हों, जब सामने दूसरा आदमी होगा। आदमी अकेले-अकेले खूब बाते कर लेता है और जिसने किसी पागल को देखा होगा, उसे इस बात से इनकार नहीं हो सकता कि आदमी चौबीस घटे में से बीस-बाईस घटे अकेले-अकेले और जोर-जोर से बाते कर सकता और कर लेता है। कल्पना के रहते बातें करने के लिए अपने सामने दूसरा आदमी खड़ा करना कौन मुश्किल काम है? जब पेड़-पौधों, पहाड़ों से बात की जा सकती है, तब अकेलेपन का सवाल कहाँ रह जाता है?

स्वाध्यायी को उद्गारों मे बहकर बातो में फँस जाने से बचाना ही होगा।

ममतारूपी रुकावट

झूठ बोलने, कल्पना करने, नकार भावों को अपनाने और व्यर्थ बातें करने से आदमी आदमी न रहकर मशीन बन जाता है और अपने मशीनपन को दूर करने की बात भूल जाता है। जब वह मशीनपने को दूर करने में लगता है, तो जरा भी असफल होने पर निराश हो बैठता है। अब उसे या तो सहायता चाहिए, या नयी जानकारी, या उत्साह। और इन चीजों में से कोई उसे जल्दी या आसानी से न मिली, तो वह उन्हें दूर करने को भूल जाता है और समझने लगता है कि वह खुद मशीन ही है, यानी जागकर सो जाता है।

इस नींद का बहुत बुरा परिणाम होता है। यह दूसरी बात है कि उसके मन पर कोई इतने जोर का निशान नहीं रह जाता, जो उसे दुःख देता रहे। फिर भी उसकी नींद उसके लिए एक बहुत बुरी चीज छोड़ जाती है और वह है ममता।

ममता स्वाध्याय की राह में बहुत बड़ी रुकावट है। यह ममता दो तरह की होती है: एक चीजों की और दूसरी आदमियों की। चीजों की ममता में गुण-अवगुण सब शामिल है।

ममता में सबसे बड़ा ऐब यह है कि वह अपनी चीजों को न अपनाकर पर को अपनाती है। ममता आप झूठ की बेटी है। आदमी अपने को पहचानकर अपने को अपना कहने लगे, उसे ममता नहीं कहा जा सकता। दूसरे को अपना कहना ही ममता कहलाता है। आपा और पर मिलकर ही दुनिया बनी है। दुनिया होनी चाहिए। रहनी चाहिए और यह भी चाहिए कि वह बनी रहे, पर जब दुनिया आपा और पर के सही रिश्ते को बिगाड़ देती है, तब दुनिया इस काम की नहीं रह जाती कि वह बनी रहे और यह रिश्ता और समतोल बिगड़ता है ममता से। इसलिए ममता को छोड़ने की बात कही गयी है। ममता जागी कि आदमी में हर चीज को अपनी कहने की आदत पैदा हुई। वह रुचि को अपनी कहे तो कहे, वह अरुचि को भी अपनी कह बैठता है यानी बुराई-भलाई दोनों को अपनाने लगता है। ममता के आधार पर आदमी जो कुछ कह डालता है, उसे अपना कहा हुआ मानता है। उसे जो वेदना होती है, उसको अपनी मानता है। ममता में जो मान्यताएँ बना बैठता है, उनको अपनी कहता है, असान्यता तक को अपना लेता है, इच्छाओं, आकाङ्क्षाओं को अपनी कहता है, यहाँ तक कि अनिच्छा को भी अपना लेता है। अब यह समझना चाहिए कि आदमी हर चीज मे समा जाता है या हर चीज आदमी में समा जाती है। आदमी इतना एकमेक हो जाता है कि न वह अपने-आपको विचारों से अलग कर सकता है, न वेदनाओं से, न चीजों से और न भाई-बंदों से। इस एकमेकता की वजह से उसमें यह योग्यता नहीं रह जाती कि वह अपनी किसी चीज को भी पक्षपातरहित होकर देख सके या जाँच सके। कोई चीज ऐसी मिलेगी ही नहीं, जिससे आदमी ममता न करता हो। ममता में डूबकर आदमी न मशीनपने का अनुभव करता है, न उस मशीन की क्रिया-प्रतिक्रिया को समझ सकता है।

ममता और झूठ

झूठ बोलना, कल्पना करना, नकार भाव और बातों की खातिर बात करना, ये सब उस मशीन की क्रिया-प्रतिक्रिया ही तो हैं, जिसको ममता के बल पर आदमी ने अपना रखा है। आदमी जरा मशीन को अपनाना छोड़

दे यानी अपने को मशीन समझना छोड़ दे, तो उसी क्षण से झूठ बोलना कम हो जायगा, कल्पना शक्ति दुबली हो जायगी, नकार भाव कम हो जायेंगे और गप-शप नाम के लिए रह जायगी। ममता के हटते ही अनेक मूर्खताओं का अन्त हो जायगा। किसी कवि ने ठीक लिखा है—

'ममते तू न कभी मिट पायी'

ममता द्वारा मूर्खताओं से दोस्ती

अभी तक जिस ममता की बात हमने कही, वह थी चीजों की ममता। चीजों की ममता कम नशा नहीं लाती, उस नशे की नींद कम गहरी नहीं होती। पर आदमियों की ममता, भाई-बंदों की ममता तो इससे भी गहरा नशा लाती है और इससे भी गहरी नींद में सुलाती है। आदमी जब भी कोई काम करता है, तब उसके दिल में यह खयाल आये बिना नहीं रहता कि लोग उसे क्या कहेंगे। 'लोग इसे क्या कहेंगे' यानी वह लोग क्या कहेंगे, जिनसे उसने ममता पैदा कर रखी है। 'लोग क्या कहेंगे' की बला आदमी ने अपने से ऐसी बाँध रखी है, जो उसे बहुत दुःख देती रहती है। अपनों से वह तारीफ की आशा रखता है। तारीफ चाहे तो चाहे, वह फटकार भी चाहता है। अपने प्रेमी से फटकार की माँग पर तो कवियों ने ग्रन्थ रच डाले। उसे फटकार तारीफ से भी ज्यादा प्यारी मालूम होती है। गुरुजी की मारपीट की तारीफ हर आदमी के मुँह से सुन लीजिये। किसी-किसी जात में नयी बहू नये दूल्हे को छड़ियों से मारती है और यह रस्म सब आदमियों के सामने होती है और उस बहू को अपने दूल्हे के पीटने के लिए कुछ इनाम भी मिलता है और दूल्हा भी बहू से पिटने में सुख मानता है। यह रस्म इस बात का सबूत है कि ममता आदमी में ऐसी बुरी चीज है, जो अनगिनत मूर्खताओं से उसकी दोस्ती ही नहीं, अभिन्नता और एकमेकता करा देती है। इन आदमी की ममता की वजह से आदमी का जीवन दुःख, संदेह और शंकाओं से भर जाता है और किसी दूसरी चीज के लिए जगह नहीं रह जाती।

आदमी में जो तुच्छता और महत्ता के भाव आ जाते हैं, उसकी जड़ में ममता मिलेगी। ममता के हटने पर यह दोनों भाव खतम हो जाते हैं।

जड़ता की जड़ ममता

ममता छोड़ने की बात लोग बहुत कम सोचते हैं। लोग यह समझते हैं कि ममता छूटते ही दुनियादारी खतम हो जायगी और आदमी जड़ बन जायगा। उन्होंने यह कभी सोचा ही नहीं कि ममता ने आदमी को जड़ बना रखा है। उसमें जितनी जड़ता है, वह सब ममता की वजह से। मशीन जड़ है, मशीन का मालिक मशीन का अपना हुआ, पर मशीन जैसे चीजों को काटती है, वैसे ही मालिक की उंगली काट डालेगी और उसका सिर काटकर उसकी जान ले लेगी। क्या आज यह नहीं देखने मे आता कि आदमी देशभक्ति के नशे में अपने बेटे-बेटी की जान ले लेता है और कुटुम्ब-भक्ति के नशे में देशवासियों को गुलाम बना देता है। फिर यह सोचना कि ममता छोड़कर आदमी जड़ बन जायगा, कितनी भारी भूल है!

ममता छोड़कर आदमी मे चेतनता जागेगी और वह सच्चे मानों में चेतन बन जायगा। दुनिया का सुख आदमी की चेतनता पर निर्भर है, न कि आदमी की जड़ता पर। ममता मे फँसे आदमी को अपने भाई-बदों के शरीर से मोहब्बत होती है। ममता रहित आदमी को अपने भाई-बदों की आत्मा से प्रेम होता है। देह से मोहब्बत (राग) के माने है अवगुणों की बढ़वारी से मोहब्बत और आत्मा से प्रेम के माने है गुणो की बढ़वारी से प्रेम। दुनियादारी अवगुणों की बढ़वारी से जितनी बढ़ती है, उससे ज्यादा बढ़ती है गुणो की बढ़वारी से। इसलिए ऐसी शका करना बेकार है कि ममता छूट जाने से दुनिया खतम हो जायगी। अगर ममता छूटने से कोई चीज खतम होगी, तो वह होंगे अवगुण या दुःख, चिंताएँ और इसी तरह की दूसरी आफतें, और ये भी दुनिया से कहाँ खतम होंगे? ये तो खतम होंगे उन आदमियों से, जिन आदमियों में आत्म-चेतना जाग गयी होगी। जिस तरह आज दुनिया के आदमी जगली और सभ्य दो भागों में बँटे हुए हैं, उसी तरह फिर आदमी सभ्यपुरुष और देवपुरुष, इन दो भागों मे बँट जायँगे।

ममता ने आदमियो मे जगह पाकर आदमी को अनेक किस्मो में बाँट दिया है। देखने में सब आदमी एक-से मालूम होते हैं, पर बर्ताव में हर आदमी

स्वभाव और गति को बुद्धि की दासता में छोड़ सकते हैं। इनकी भावुकता अगर ज़रा उछलने लगे, तो उसे पाँव से कुचल देते हैं। वह बुद्धि को ही ईश्वर मानते हैं और समझते हैं कि हम बुद्धि ही हैं और कुछ नहीं। ऐसे आदमियों को बुद्धिवासी आदमी या विचारवासी आदमी कहा जा सकता है।

देहवासी आदमी

देहवासी आदमियों से दुनिया भरी पड़ी है। सिपाही लगभग सब-के-सब देहवासी होते हैं। उन्हें भावों और विचारों को कुचल डालने में कभी आना-कानी नहीं होती। भावुक वह बेहद होते हैं। अपने बच्चों, अपने माँ-बाप, अपनी मान्यताओं के लिए उनमें बड़ी भावुकता होती है, पर अपनी देह के खातिर वह उनकी जान लेने में जरा नहीं झिझकते। जो सिपाही अपने बाप की खातिर जान दे देगा, वह अपने सरदार के हुक्म से उसी बाप का सिर काट लायगा। जिस बाप ने अपने सिपाही बेटे को २५ वर्ष तक बड़ी मेहनत से पाला होता है, वह बेटा देहवासी होने से दो दिन में सरदार का हो जाता है और माँ-बाप के सारे एहसानों को भूल जाता है। ऐसे देहवासी आदमी को मशीन न कहा जाय, तो क्या कहा जाय? और ऐसी मशीनें सुखी कैसे बना सकती हैं? और फिर वह सिपाही अपने सरदार का भी कहाँ रहता है! सरदार बदलते रहते हैं। सरदार के मामले में देशी-विदेशी का सवाल भी उसके सामने नहीं आता। मशीन को इन सब बातों से क्या मतलब! ऐसे देहवासी आदमी अपने-आपको नहीं पहचानते। ये चाहे कुछ पढ़े-लिखे हों या न हों, स्वाध्याय में उतनी ही आसानी से लग सकते हैं, जितनी आसानी से भाववासी और विचारवासी।

भाववासी आदमी

भाववासी आदमी वह होते हैं, जो अपने भावों पर सब कुछ निछावर कर देते हैं। कवि सब-के-सब भाववासी होते हैं। कवियों के लिए यह मशहूर है कि वह हमेशा गरीब रहते हैं। गरीबी अपने-आपमें बुरी चीज नहीं। यहाँ गरीबी की बात सिर्फ इसलिए कही गयी है कि भाववासी कवि गरीब होता है, अपने भावों के चक्कर में पड़कर। भाववासी अपने भावों का इतना पुजारी होता है

कि वह उन पर सब-कुछ निछावर कर सकता है, क्योंकि वह मनोभावों को ईश्वर की वाणी मानता है और फिर मन तो उसका ईश्वर हुआ ही। यह भाववासी दूसरी तरह की मशीन है। इनसे भी दुनिया सुखी नहीं बन सकती। यह किसे नहीं मालूम कि बड़ी-बडी लडाइयों के लिए जिस तरह देहवासी सिपाहियों की जरूरत होती है, उसी तरह भाववासी कवियों की। भाववासी भावों के नशे में चूर होकर समझने लगता है कि वह भावों के सिवा और कुछ नहीं। अब वह अपने-आपको किस तरह पहचाने? स्वाध्याय में लगकर भाववासी भावों की दुनिया में रहना कम कर देगा, उसकी झूठ की आदत कम हो जायगी, कल्पना की दुनिया छोटी रह जायगी, बेकार भावों में रस लेना छोड देगा और व्यर्थ की बातों से बचकर सत्य की राह पर धीरे-धीरे बढ़ने लगेगा।

विचारवासी आदमी

विचारवासी यानी बुद्धि के भक्त बुद्धि को ही सब कुछ समझते हैं। स्वभाव और गति को वह बुद्धि की देन मानते हैं। भावों को वह बेकार चीज समझते हैं। बुद्धि से आगे कोई और चीज है, ऐसा वे नहीं मानते। उनकी राय में बुद्धि ही चेतना, पर मुश्किल यह है कि वे बुद्धि से ऐसे-ऐसे काम ले बैठते हैं, जो दुनिया के लिए बडे दुखदायी होते हैं। यह भी तो नहीं कि वह काम उनके लिए सुखदायी हो। बुद्धि के चक्कर में फँसकर वह ऐसे काम कर डालते हैं, जिन्हें भाववासी और देहवासी देखकर अचरज में पड जाते हैं। मान लीजिये, एक बुद्धिमान् परमाणु तोडने में जुट गया। जब वह तोडने लगा, तो एक धमाका हुआ। धमाके ने उसकी बुद्धि के सामने बन्दूक ला खडी की। बन्दूक ने शोर खड़ा कर दिया और इसी सिलसिले में फौजें, राज, लडाइयाँ, सब आ खडी हुईं। अब उसकी बुद्धि का नतीजा क्या हुआ? यही न कि उसने आफतों का एक जाल खडा कर लिया और उसी जाले में मकडी बनकर बैठ गया। अब न दिन को चैन, न रात को आराम, यही फिकर कि इस जाल में कब कोई मक्खी फँसे! और मक्खी फँसने पर भी कहाँ आराम! अब यह डर कि यह जाला तोडकर न भाग जाय। इसलिए उसकी तरफ दौड और फिर तेजी के साथ उसके अपने जाले से बाँधने की नयी क्रिया। फिर सुख कहाँ! बुद्धिमान् में यह ऐब आये

एक-दूसरे से अलग मालूम होता है। सब आदमियों को अगर कुछ भागों में बाँटा जाय, तो न जाने कितने भाग बन जायँ। फिर भी सुभीते के लिए हम उन्हें पहले तीन भागों में बाँटते हैं।

राग-द्वेष का जोड़ा

इन भागों मे बॉटने से पहले स्वाध्याय के लिए तैयार आदमी को एक मार्के की बात समझ लेनी चाहिए। हर भाषा में प्रेम के लिए एक शब्द नहीं, अनेक हैं, पर दो तो है ही। हमारी बोली में 'राग' और 'प्रेम', फारसी मे 'रगबत' और 'इश्क' है, अग्रेजी मे 'अटेचमेंट' और 'लव' है। अटेचमेंट के लिए 'एट्रेक्शन' शब्द भी आता है। इसीके साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि राग से उल्टा शब्द है द्वेष, रगबत से उल्टा नफरत, एट्रेक्शन से उल्टा रिपल्शन। कहने के लिए ये उल्टे और दो शब्द है, पर आदमी के अन्दर जो गुण काम कर रहा है और जिसको राग नाम दिया गया है, वह खालिस राग नहीं है, उसमें द्वेष की मात्रा इतनी ही मिली हुई है, जितनी उसमें राग की है। बस, यही समझना चाहिए कि राग-द्वेष ऐसे जुडे हुए हैं, जैसे एक पैसे के दो पहलू। वे अलग हो ही नहीं सकते। राग-द्वेष, रगबत-नफरत, एट्रेक्शन-रिपल्शन का जोडा है। प्रेम गुण से मतलब है राग के साथ द्वेष का बिल्कुल न रहना। प्रेम गुण भी आदर्श है। खालिस प्रेम दुनिया में नहीं रह सकता। प्रेम दुनियाभर में फैलकर दुनिया को नष्ट कर देगा।

प्रेम और राग

ईश्वर का दूसरा नाम प्रेम है। प्रेम ही आदमी का जीव है और राग आदमी का पुरुष है। दुनिया के लिए जिस तरह जीव और पुरुष का मेल जरूरी है, उसी तरह प्रेम और राग जरूरी है। जिस तरह हम यह नहीं चाहते कि पुरुष के ताबे में जीव रहे, वैसे ही हम यह नहीं चाहते कि राग के ताबे में प्रेम रहे। हम राग को चाहते है, उसके बिना दुनियादारी खतम हो जायगी, पर हम चाहते हैं राग को प्रेम का दास बना देखना। प्रेम की दासता में राग मोटा नहीं हो पायगा। राग के मुटापे मे इतना ही ऐब है कि उसके

साथ-साथ द्वेष भी मोटा होता है। प्रेम की बढवारी यानी प्रेम की मालिकी में द्वेष मोटा नहीं होता और न राग प्रेम का मालिक बन पाता है। राग अगर प्रेम पर हावी हो जाय, तो दुनिया दुखमय हो जाती है। इसीलिए प्रेमी और प्रेमिका, न मिलने में सुखी होते है, न वियोग मे। अगर वे सच्चे मानों मे प्रेमी हों, तो मिलन में भी सुखी रहेंगे और वियोग मे भी। मीराबाई ईश्वर की प्रेमी थी, पर जब-जब उसने अपने भजन लिखे, तब-तब वह आत्म-चेतना मे न होने से ईश्वर की प्रेमी न रहकर ईश्वर की रागी बन गयी, तभी तो उसके हर भजन में जितना वेदनाभरा राग टपकता है, उतना वेदनारहित प्रेम नहीं। बस, स्वाध्यायी को राग और प्रेम के ठीक-ठीक माने अपने हृदय पर अच्छी तरह अंकित कर लेने चाहिए।

हम ऊपर कह आये हैं कि आदमी में चार क्रियाएँ हर वक्त चलती रहती हैं : विचार, भाव, स्वभाव और गति। स्वभाव और गति कहने के लिए दो हैं, इनका भी साथ ऐसा है कि जहाँ स्वभाव वहाँ गति, जहाँ गति वहाँ स्वभाव। इनमें क्या अन्तर है, इस बारीकी को खोलने की यहाँ जरूरत नहीं। ये दोनों एकमेक हैं, इतना मानकर चलने से आगे का काम चल सकेगा। यहाँ तो हमें यह समझना है कि इन चार क्रियाओं की वजह से दुनिया के सारे आदमी तीन भागों में बाँटे जा सकते हैं।

आदमियों के तीन विभाग

१. देहवासी—एक वह आदमी, जो स्वभाव और गति को ही सब-कुछ समझते हैं। वह स्वभाव और गति पर अपने भाव और विचारों को निछावर कर देते हैं। उन्हें देहवासी आदमी या देही कहा जा सकता है।

२. भाववासी—दूसरे वह आदमी हैं, जो भावों में निवास करते हैं, सिर से पैर तक भावुक बने रहते हैं। भावों की दुनिया पर वह विचार और बुद्धि को निछावर कर देते हैं। फिर स्वभाव और गति की तो बात क्या! ऐसे आदमियों को भाववासी आदमी या भावुक कहा जा सकता है।

३. बुद्धिवासी—तीसरे वह आदमी हैं, जो विचारों की दुनिया में रहते हैं, बुद्धि को ही सब कुछ मानते हैं। बुद्धि के चरणों में वह भावों को पटक सकते हैं,

बिना रहता ही नहीं कि वह औरों को अपने वश में करे और यह बात मानी हुई है कि दूसरे को वश में करके वश में बनाये रखने के लिए हमें अपने-आपको सैकड़ों बुरी आदतों के वश में रहना पड़ता है। जेलखाने में कैदी रात को आराम से सो सकता है, पर उसको कैद में रखनेवाले अगर रातभर जागें नहीं, तो उसे वहाँ नहीं रख सकते। इसलिए लोगों पर काबू रखने की बात सोचकर, बुद्धिमान् सुखी नहीं रह सकता। यही बुद्धिमान् स्वाध्याय में लगकर, अपने को पहचानकर और अपनी मशीन को काबू में रखकर सुखी भी बन सकता है और जो गलत भावना दूसरों को काबू में रखने की उसमें जागी थी, वह भी पूरी हो सकती है; क्योंकि भाववासी और देहवासी ही नहीं, बुद्धिवासी भी चेतनावासी की दासता में रहना ठीक समझते हैं और सुख मानते हैं।

दुनिया में जितने आदमी पैदा होते हैं, वह सब इन तीन किस्मों में से किसी-न-किसी किस्म के होते हैं। आगे की ओर जो किस्में हैं, वह स्वाध्याय के बल पर बनती हैं और आत्म-चेतना के माप से मापी जाती हैं। आदमी जैसे ही अपनी जानकारी में लगता है, उसे सबसे पहले यही पता लगता है कि स्वभाव, गति, भाव और बुद्धि के परे कोई चीज जरूर है और वही वह है। है तो यह कल्पना ही, पर इस कल्पना से मशीन की गति मंद पड़ जाती है और कल्पना इस काम में लगकर इधर-उधर न भागने की वजह से वह नुकसान नहीं कर पाती, जो वह और तरह करती रहती। जैसे ही स्वाध्यायी को बुद्धि के परे की चीज का विश्वास हो जाता है, वैसे ही ममता ढीली पड़ जाती है और दोनों तरह की ममता कम होकर उसके नकार भाव यानी क्रोध, चिंता इत्यादि कम होने लगते हैं और उसे एक हल्कापन महसूस होने लगता है। इस हल्केपन को सुख न कहा जाय, तो क्या कहा जाय?

इस सुख से स्वाध्यायी भागता क्यों है? भागता इसलिए है कि उसे मशीन में ममता जाग उठती है। वह यही समझने लगता है कि या तो वह बुद्धि है, या स्वभाव और गति है। मुद्दतों तक 'पर' में रहने का अभ्यासी होने से, 'अपने' में रहने में उसे जरा कष्ट हुआ कि वह एकदम पर में कूद आता है। अपने में रहने का अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ता है।

दूसरे तीन प्रकार के आदमी

तीन तरह के पैदाइशी आदमियों का वर्णन हो चुका। तीन ही तरह के वे आदमी होते हैं, जो अपनी मेहनत से अपने-आपको तैयार करते हैं। वे ये हैं :

१. स्व-जानकार—एक वह होते हैं, जिन्होंने यह मान लिया होता है कि वह हैं और उस मशीन से अलग हैं, जिसे आदमी नाम दे दिया गया है। उनको यह पता रहता है कि इस जगत् में उनका क्या स्थान है, उन्होंने अपने मन, मस्तक और बुद्धि की डाँवाडोल हालत पर काबू पा लिया होता है, और उसमें स्थिरता पैदा कर ली होती है। इसका मतलब है कि उनके अन्दर रहनेवाले अनेक 'अहम्' मिलकर एक हो गये होते हैं, चेतनाएँ जाग गयी होती हैं, जीव ने अपने आपको मानना शुरू कर दिया होता है। इच्छा-शक्ति फिर से काम करने लगी होती है, दूसरे सब कामों को छोड़कर आत्मोन्नति में लगने में उन्हें आनंद आने लगता है। उसके काम और केंद्र में संतुलन आ चुका होता है। ऐसे आदमी को **स्व-जानकार** या चौथे नम्बर का आदमी कहा जा सकता है।

२. स्व-कर्तव्य-जानकार—दूसरे वह होते हैं, जिन्होंने आत्म-चेतना हासिल कर ली होती है और अहम् की एकता को अच्छी तरह समझ लिया होता है। मामूली आदमियों से यह आदमी अलग किस्म के होते हैं। इनमें कर्तव्यज्ञान जाग गया होता है, यह अनेकों ऐसे कार्य कर सकते हैं, जिन्हें तीन किस्म के पैदाइशी आदमी नहीं कर सकते। इन्हें **स्व-कर्तव्य-जानकार** नाम से पुकारा जा सकता है या ये पाँचवें नम्बर के आदमी समझे जा सकते हैं।

३. स्व-शक्ति-जानकार—तीसरे वह आदमी हैं, जिन्होंने आत्म-चेतना को पूरी तरह जगा लिया होता है। इन आदमियों में ऊपर के केंद्र काम करने लगते हैं। उनके काम करने की ताकत का मामूली आदमी अन्दाजा नहीं लगा सकता। ऐसे आदमियों को **स्व-शक्ति-जानकार** कहा जा सकता है।

अपनी मेहनत से बननेवाले आदमियों में चौथे किस्म के आदमी भी होते हैं। उन्हें **स्व-शक्तिवासी** या सातवें नम्बर से पुकारा जा सकता है, पर उनका जिक्र इस किताब में नहीं रहेगा, वे दुनियादारी से परे हो जाते हैं। उनसे दुनिया को सीधे-सीधे कुछ फायदा नहीं होता। कुछ लोगों का खयाल है कि उनसे

फायदा होता रहता है, पर स्वाध्यायी को न इस झझट मे पडने की जरूरत है, न यह बात उसके समझ में आ सकती है, और न हम समझने की सोच सकते है। वह ताकत, जो सात नम्बरवालों को हासिल होती है, ऐसी नहीं होती, जिसका वर्णन किया जा सके। उसका ठीक-ठीक हाल वही जानते हैं, जिनको वह प्राप्त है और उस ताकत की जानकारी हम सबके लिए ऐसे ही भेद बनी रहेगी, जैसे पूरा सत्य या ईश्वर।

यह जो हमने आदमियों को किस्मों मे बाँटा है, यह सिर्फ स्वाध्यायी के सुभीते के लिए। इस मामले मे स्वाध्यायी अपने-आपको पूरा आजाद समझे। वह अपने अनुभव के बल पर किस्मों में कमी-वेशी कर सकता है। दूसरे नाम दे सकता है। इन किस्मों को तो औजारभर समझना चाहिए और औजार काम के लिए होते है, काम हो जाने के बाद बेकाम हो जाते हैं।

सब किस्मों का धर्म, कला और विज्ञान

पैदाइशी आदमियों की जिन तीन पैदाइशी किस्मों की बात कही गयी है, वे आदमी न बगैर धर्म रह सकते हैं न बगैर कला, विज्ञान और दर्शन के। कोई आदमी इतना मूर्ख नहीं होता कि वह अपने लिए किसी धर्म को न बना सके, फिर वह धर्म बुद्धिमान् आदमियों के लिए कितना ही अनगढ़ क्यों न हो। मानव-समाज जब बिलकुल बच्चा था, तब भी उसके पास कोई-न कोई धर्म जरूर था और आज के ऊँचे-से ऊँचे धर्म में उसी धर्म के बीज मौजूद हैं। यह बात यों भी कही जा सकती है कि हर ऊँचे-से-ऊँचे धर्म में वह सब-का-सब अनगढपन मौजूद है, जो धर्म की शुरू हालत मे था। जिस तरह चीनी बच्चों की कम खुली आँखें बुढापे तक साथ देती हैं और जिस तरह हिन्दुस्तानी बच्चे की बडी-बडी आँखें बुढापे तक बनी रहती हैं, वैसे ही धर्म के कर्मकाड जो शुरू में रहते है, आखिरी दम तक पीछा नहीं छोड़ते।

धर्म की तरह हर आदमी की, फिर वह चाहे कितना ही अज्ञानी क्यों न हो, अपनी कला भी रहती है। उसमे चित्रकला, मूर्तिकला, गायनकला, मकान बनाने की कला और दूसरी और कलाएँ शामिल है। पुरानी चित्रकला चाहे गिरी

लकीरवाली क्यों न हो, आज तक मौजूद है और ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे की चित्रकला में वह ऐसे ही छिपी मिलेगी, जैसे हर बूढ़े में बालकपन छिपा रहता है।

धर्म और कला की तरह हर आदमी का अपना विज्ञान भी रहता है। विज्ञान के वह दोनों भाग भी रहते हैं, जिन्हें व्यवहार और सिद्धांत नाम दिया जाता है। मानव-समाज अपने बचपन में आग, पानी, हवा, मिट्टी और आकाश के अनुभव करता था। उन अनुभवों से कुछ नतीजे निकालता था और फिर उन तत्त्वों से अपना काम लेता था। वह पानी के नीचे की तरफ बहने के स्वभाव से परिचित था। यह भी जानता था कि आग ऊपर को जाती है, हवा खाली जगह घेर लेती है, गीली मिट्टी सूखकर वैसी ही रह जाती है, जैसी वह बनी होती है और यही उसका विज्ञान था। आज के ऊँचे-से-ऊँचे विज्ञान में यह बीजरूप विज्ञान ज्यों-का-त्यों मौजूद है।

धर्म, कला और विज्ञान की तरह बाल-मानव समाज का अपना दर्शन था। उसी दर्शन के बल पर उसने सूरज, इन्द्र इत्यादि को अपना देवता माना और मरने के बाद क्या होता है, यह सोच निकाला। ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे के दर्शन में वह सब चीजें बीजरूप से मिलती हैं, जो मानव समाज ने अपने बालकपन में सोच निकाली थीं।

धर्म, कला, विज्ञान और दर्शन की बात हमने सिर्फ इसलिए छेड़ी कि आज भी पैदाइशी किस्म के तीन तरह के आदमियों में अलग-अलग तरह के धर्म, कला, विज्ञान और दर्शन देखने को मिलेंगे। किस तरह के आदमी का कैसा धर्म होगा, हो सकता है या होना चाहिए, यह उस आदमी की इस बात पर निर्भर है कि वह किस किस्म का है यानी यह कि वह देहवासी है, भाववासी है या विचारवासी। अगर वह देहवासी है, यानी अपने तन को ही सब कुछ समझता है, तो उसका धर्म जादू-टोनों से भरा मिलेगा, उसकी अनेक क्रियाएँ ऐसी होंगी, जो भाववासी को या विचारवासी को बिलकुल न रुचेंगी और अपनी मेहनत से बने हुए आदमी को, यानी स्व-जानकार को वह सब क्रियाएँ मूर्खता से भरी जँचेंगी।

देहवासी भक्ति की बात नहीं सोच सकता। उसे भूख लगती है, खाने की

जरूरत होती है, इसलिए उसके देवता को भूख लगे और खाने की जरूरत न हो, ऐसा कैसे हो सकता है ? जैसे वह खाना न मिलने पर अपने औरत-बच्चों को पीट बैठता है, उसी तरह उसे यह समझने का हक है कि उसका देवता भूखा रहने पर उसे सतायेगा, उसे बीमार डाल देगा या मार डालेगा। इसलिए उसने बलि देने की बात सोची। भक्ति या इससे भी ऊँचे दर्जे के सिद्धान्तों की बात न उसको जॅच सकती थी, न उसके काम की थी और न उसने अपनायी।

भाववासी यानी जिसने भावों को ही सब कुछ मान रखा है और जो समझता है कि वह मन-ही-मन है और कुछ नहीं, उसका धर्म भक्ति के सिवा क्या हो सकता है ? उसकी भक्ति अगर कभी पागलपन में बदल जाय, तो आश्चर्य की बात नहीं। भाववासी आदमी पागलों को न पूजेंगे, तो और क्या करेंगे ? उनमें बरदाश्त की कमी रहनी ही चाहिए। उनके धर्म को जो नहीं मानता, वह सूली पर चढ़ेगा ही। उनकी समझ में ऊँचे दर्जे के सिद्धान्त नहीं आ सकते। उनकी अहिंसा उनके अपने रिश्तेदारों तक रहे, यह बहुत कुछ है। भाववासी आदमी अपना गला काटकर देवता पर चढा सकता है, फिर दूसरे का गला काटकर देवता पर चढाने में झिझक कैसी ? भाववासी आदमी देहवासी के जादू-टोनों का भक्ति और प्रार्थना से सामना करता है, और ऊँचे सिद्धान्तवालों को थोथा पडित यानी मूर्ख मानता है।

विचारवासी यानी बुद्धिवासी आदमी की समझ में न बलिदान की बात आती है और न भक्ति की। उसने बुद्धि को सब-कुछ मान रखा है। वह अपनी बीमारियों का इलाज देहवासियों की तरह न बलि देकर करता है, न भाववासियों की तरह प्रार्थना की मदद लेता है, वह उसका इलाज जड़ी-बूटियों से करता है या और इसी तरह के कुछ उपचार सोच निकालता है। बुद्धिवासी आदमी व्याकरण की शुद्धि को बहुत जरूरी समझता है। शब्दों के ठीक-ठीक उच्चारण पर बडा जोर देता है, उच्चारण की भूल से उसका देवता नाराज हो जाता है। अगर वह दायें हाथ की जगह बायें हाथ से काम करने लगे, तो उसे यह डर लगने लगता है कि कहीं उसका देवता उसके लिए मौत न भेज दे। थोड़े शब्दों में यह बुद्धिवासी अपने-आपको अपने गढ़े हुए मंत्रों के जाल में और इसी तरह के

अन्य कर्मकाडों में फँसा लेता है और अपने-आपको नहीं पहचान पाता। पहचानने की सोचता भी नहीं। वह अपने को वह मानता ही नहीं, जो वह है। वह तो अपनी बुद्धि को अपनी मानता, उसीकी सुनता है। उसीके बताये कार्य करता है और उसीका दास बना रहता है। यह वह सोचता ही नहीं कि उसकी बुद्धि खुद परिस्थितियों की दास है।

स्व-जानकार का कर्तव्य

स्वाध्यायी को तीनों तरह के आदमियों को अच्छी तरह समझ लेना होगा और वह खुद भी तो इन तीनों में से कोई एक होगा। ये तीन किस्म के आदमी मिल-मिलाकर कई किस्म के हो जाते हैं। हो सकता है, एक आदमी में तीनों किस्में पायी जायँ, यानी वह देहवासी, भाववासी और विचारवासी तीनों हो। जब एक आदमी में अनेक अहमों के रहने की बात कही जा चुकी है, तब ऐसा मानने में अचरज क्या? स्वाध्यायी अपनी जाँच से परख लेगा कि वह देहवासी है या भाववासी या विचारवासी या एक साथ तीनों। स्वाध्यायी के सुभीते के लिए ये किस्में तैयार की गयी हैं।

स्वाध्यायी को यह ध्यान रहे कि ये तीन तरह के आदमी और कामों में कितनी ही उन्नति क्यों न कर जायँ, आत्मोन्नति में नहीं लगते, यानी अपने गुणों को उन्नत नहीं करते। जैसे ही किसी वजह से ये लोग आत्मोन्नति में लगे, और जैसे ही इन्हें अपनी मेहनत से आदमी बनने की बात सूझी, वैसे ही इन्हें यह पता लगने लगता है कि इनकी अब तक की मेहनत से न दुनिया का कुछ भला हुआ और न इनका अपना, और जैसे ही यह ज्ञान हुआ कि उनमें एक बदलाव आया और अगर वह बदलाव कुछ टिका, तो बहुत जल्दी यह स्व-जानकार दर्जे में आ जाते हैं।

देहवासी, भाववासी और विचारवासियों का जिस तरह अलग-अलग धर्म होता है, उसी तरह उनकी कला, उनका विज्ञान और दर्शन अपना अलग-अलग रूप लिये आगे बढ़ते रहते हैं। वह दूसरों को नुकसान पहुँचाकर ऐसा मानते हैं कि वह अपनी उन्नति कर रहे हैं। यह वह समझ ही नहीं पाते कि सारा मानव-

समाज एक है और यह कि सबकी उन्नति के बगैर एक दल या एक आदमी उन्नति नहीं कर सकता। इस तरह का खयाल पैदा करने के लिए ही स्वाध्याय है।

स्वाध्याय की गरज है अपने को पहचानना और यह जानना कि आदमी का समाज के साथ और दुनिया के साथ ठीक-ठीक रिश्ता क्या है?

सुभीते के लिए मानव-समाज को किस्मों में बाँटने की यही मशा है कि हम अपने जीवन की तरह-तरह की गुत्थियों को आसानी से सुलझा सकें।

अगले अध्याय में हम इन्हीं किस्मों पर विस्तार के साथ कहेंगे। इस वक्त इतना समझना काफी है कि जब तक किसी आदमी को यह ज्ञान न हो कि उसमें कुछ कमियाँ हैं, तब तक वह उन कमियों को दूर करने में नहीं लगता। तपेदिक का बीमार सिर्फ इसी वजह से अपनी बीमारी पर ध्यान नहीं देता कि उसकी बीमारी इतने चुपके से उसकी देह में प्रवेश करती और इतने धीरे-धीरे देह में फैलती है कि रोज के काम में कोई बाधा नहीं होती। बीमार को यह भान नहीं हो पाता कि वह किसी भयानक बीमारी का शिकार हो गया है। यही हाल हमारे अवगुणों का है। वह ऐसे धीरे-धीरे हममे जड़ जमाते हैं कि हमें यह पता ही नहीं चल पाता कि हममे कोई ऐसी क्रिया चल रही है, जो हमें दुःख और अशांति की ओर खींचे चली जा रही है। हम अपने काम-क्रोध के सिर्फ उस फल को ही देख पाते है, जो हमें एक क्षण को सुख देकर चल भागता है। उस फल की तरफ हमारी नजर नहीं जाती, जो धीरे-धीरे हमारे भीतर की ताकत को घुन बनकर खाता रहता है। हमारी नजर उस तरफ जाय, यही स्वाध्याय का विषय है और इसी स्वाध्याय के जरिये हमारा ध्यान उस तरफ जायगा कि हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। गेंद जितने जोर से दीवाल मे मारी जाती है, उतने ही बल से वह हमारी तरफ लौटती है। इसी स्वाध्याय से यह पता चल जाता है कि हमारी सुख देनेवाली क्रियाएँ हमारे लिए बहुत दुःख छोड़ जाती हैं। ❂ ❂ ❂

तीसरा अध्याय

आदमी रूपी मशीन के कार्य

तन मशीन है

ऐसा कभी कोई वक्त न था, जब मानव-समाज सब-का-सब इतना अजानकार हो कि उसमें एक आदमी भी ऐसा न हो कि जो अपने पहचानने की फिकर न करता हो। हमेशा कुछ-न-कुछ लोग ऐसे रहे है, जिनका ध्यान आदमी के तन की तरफ गया और उसको उस चीज से अलग माना, जो तन को सँभाले है। मरे और जीते आदमी मे भेद करना इस बात का सबूत है। बंदर अपने मरे बच्चे और जीते बच्चे में भेद नहीं करता। बच्चे को महीनों लिए फिरता है, जहाँ तक बने, उसे नहीं छोड़ता। आदमी हमेशा से बंदर से उल्टा पाया गया है। वह अपने मरे हुए बच्चे को जमीन मे गाड़ देता, बहा देता या जला डालता है। उसका यह काम साफ बता रहा है कि वह आदमी के तन को मशीन समझता है, हाँ, यह समझ नहीं पाता कि वह कौन है, जो उस मशीन को चलाता है और उसके कब, कहाँ चले जाने से मशीन निकम्मी हो जाती है। आदमी को बोलना और सोचना आता था, लिखना उसने बाद में सीखा। अब जो-जो उसने सोचा, उसे लेखनी के बल से अमर कर डाला और उसीसे आज इस बात का पता चल गया कि आदमी की नजर में आदमी का तन हमेशा मशीन रहा है।

बाहरी परिस्थितियों का प्रभाव

पहला आदमी यह समझता था कि मशीन में कोई है और वह निकल जाता है। आज के आदमियों का एक भाग, आदमी को एकदम मशीन मानता है। जैसे आदमी की बनायी मशीन आदमी चलाता है, वैसे आदमी नामधारी मशीन को बाहरी परिस्थितियाँ चलाती हैं। जो ऐसा कहते हैं, उन्हीका यह कहना है

कि अगर आदमी के बच्चे को पैदा होने के दिन से बाहरी परिस्थितियों से एकदम दूर रखा जाय, तो वह कुछ भी नहीं कर सकेगा; पर बच्चे को बाहरी परिस्थितियों से दूर रखना निरी कल्पना है, वह व्यवहार में नहीं लायी जा सकती; क्योंकि बच्चे के जीते रहने के लिए साँस लेना सबसे जरूरी चीज है और साँस हवा के बगैर नहीं ली जा सकती। हवा बाहरी चीज है, बच्चा इस बाहरी प्रभाव से बच नहीं सकता, फिर परिस्थितियों से कहाँ बचा? बच्चे का खाना-पीना, उठना-बैठना सभी बाहरी चीजों पर निर्भर है।

इस खयाल को छोड़िये कि वह परिस्थितियों से अलग रखा जा सकता है या नहीं, हमारे काम की बात इतनी है कि आदमी का तन मशीन है, उसे बाहरी प्रभाव की जरूरत है, और उन बाहरी प्रभावों को पाकर ही वह मशीन अपना काम शुरू करती है।

मशीन में सुभीता और असुभीता

आदमी नामी मशीन में जितना यह सुभीता है कि वह हरदम आदमी के साथ है, उतना ही यह असुभीता है कि वह आदमी के सामने नहीं है। स्वाध्याय में उस मशीन के जिन पुर्जों के काम को जानना है, वह तो बिलकुल आँख के सामने नहीं है, पर इन परिस्थितियों से न तो घबराने की जरूरत है, न बचकर भागने की। जिस वक्त कोहरा पड रहा होता है, ऐसा मालूम पडता है कि आगे रास्ता नहीं है, पर आदमी जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है, रास्ता मिलता जाता है। स्वाध्याय के शुरू-शुरू में ऐसा मालूम होगा कि आगे रास्ता नहीं है, पर दो दिन की मेहनत से रास्ता दिखाई देने लगेगा और आगे का काम, थोडा मन मारने से, आसान हो जायगा।

आदमी नामी मशीन के केंद्र कई हैं। उनमें से हरएक अपना-अपना काम करने के लिए ठीक-ठीक बना हुआ है। जब ये केंद्र अपना-अपना काम ठीक-ठीक करते हैं, तब यह आसानी से पता लगाया जा सकता है कि मशीन कब, क्या और कितना काम करेगी और उसका क्या फल होगा। ऐसे वक्त मशीन के काम की जाँच करना आसान होता है और मशीन अपनी मर्जी के माफिक चलायी जा सकती है।

दुर्भाग्य से आदमी नामी मशीन बहुत कम अपना काम ठीक-ठीक करती है, फिर चाहे आदमी कितना ही तन्दुरुस्त क्यों न हो।

ऐसा क्यों होता है? इसकी वजह यह है कि यह मशीन आदमी की बनायी मशीनों की तरह बिलकुल जड नहीं है। किसी वजह से इस मशीन को ऐसी ताक्त हासिल है कि यह अपने-आप भी काम कर लेती है। इसके अलग-अलग केंद्र थोड़ा-थोडा एक-दूसरे का काम करना जानते हैं। प्रकृति में इसकी गरज शायद यह रही हो कि मौके-बेमौके कोई आपत्ति आने पर मशीन का काम किसी तरह रुक न पाये, पर प्रकृति के इस इतज़ाम ने आदमी की मशीन को आदमी के काबू से बाहर कर दिया। उस मशीन को काबू में लाना स्वाध्याय का काम है।

इतना ही अच्छा है कि अलग-अलग केन्द्रों में एक-दूसरे के काम कर लेने की जो योग्यता है, वह इतनी ज्यादा है कि जिसकी वजह से मशीन बहुत कम ही ठीक काम कर पाती है, क्योंकि हरएक केंद्र दूसरे केंद्र का काम करने की वजह से अपने काम में ढील डाल देता है। इसलिए कहा जा सकता है कि यह मशीन पूरी तरह उन्नत नहीं है। इसमें सुधार की जरूरत है और यह वह बात है, जिसकी वजह से स्वाध्याय की जरूरत है और स्वाध्याय से सफलता होने की सभावना है।

चित्त-वृत्तियाँ

जरा गौर से देखने से स्वाध्यायी को पता चल जायगा कि हर मिनट एक केंद्र अपना काम छोडकर दूसरे केंद्र का काम करने लगता है और वह किसी तीसरे का। इसी सब गडबडी का नाम है, चित्त की वृत्तियाँ। यही वह गड़बडी है, जो आदमी के अहम् को टुकड़ों में बाँट देती है, और इसी गड़बड़ी से आदमी की इच्छा-शक्ति आदमी के काबू से बाहर हो जाती है। इसी गडबड़ी का दूसरा नाम है, जीव का पुरुष के तावे में आ जाना।

स्वाध्याय के जरिये हम इस गड़बड़ी को मिटाकर यह चाहते हैं कि मशीन के केंद्र जरूरत पडने पर एक-दूसरे का काम तो करें, पर जीव के इशारे पर, यानी उसके इशारे पर, जो इस मशीन का मालिक है। केंद्रों में जो योग्यता है,

वह बड़े काम की साबित हो सकती है, अगर वह मालिक के तावे में रहकर काम करे और बड़ी हानिकर साबित हो सकती है, अगर काबू से बाहर हो जाय।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि एक केंद्र दूसरे केंद्र का काम न पूरा-पूरा कर सकता है, न इतनी खूबी से कर सकता है, जितनी खूबी से वह खुद करता है। केंद्रों की इस अयोग्यता का यह नतीजा होता है कि मशीन का काम बुरी तरह होने लगता है और उससे जो फल होता है, वह आदमी के लिए बड़ी देर तक दुःख देता रहता है।

आदमी रूपी मशीन के कार्य

केंद्रो के काम को और उस गडबड़ी को, जो एक-दूसरे के काम करने से होती है, यो समझना चाहिए : मान लीजिये, गति का केन्द्र विचार के केंद्र का काम करने लगे, तो क्या वह कभी ठीक काम कर सकेगा ? और सपनों में यही होता है, आदमी जब दिन मे ठाली बैठा अदर-अंदर जमीन-आसमान के कुलावे मिलाता रहता है, तब गति का केंद्र विचार-केंद्र का काम अपने हाथ में लिये होता है और काम गति-केंद्र खुद अपना काम ठीक-ठीक नहीं कर रहा होता। स्वाध्याय के जरिये इस तरह की वेपरवाही पर काबू पाया जा सकता है।

कभी-कभी विचार-केंद्र गति के काम में दखल देने लगता है। मान लीजिये, आप सीढ़ी चढ़ रहे हैं, यह काम गति के केंद्र का है। अगर गति का केंद्र किसी दूसरे काम में न लगा हो, तो आप खटखट ऊपर चढ जायेंगे और अगर गति का केंद्र भाव-केंद्र के काम मे लगा हो और उसके काम को विचार-केंद्र ने ले रखा हो, तो फिर चढना मुश्किल हो जायगा। विचार-केंद्र को चढ़ने का काम नहीं आता, इसलिए वह यह करेगा कि पहले एक पाँव को हुक्म देकर उठायेगा, फिर उसको सीढ़ी के दूसरे डंडे तक ले जायगा, फिर वह उसे जमायेगा और फिर इसी तरह हाथ को अगले डडे तक पहुँचायेगा यानी विचार के केंद्र को गति के केंद्र का काम करने मे कई हजारगुना वक्त लगेगा। यह किसको नहीं मालूम कि वच्चे जब पढ़ना सीखते हैं, तो एक-एक अक्षर पढ़ते हैं। थोड़े अभ्यास के बाद शब्द पढ़ने लगते है, बडे होकर बड़े-बडे वाक्य एक साथ पढ़ जाते हैं, गलत लिखा या छपा हो, तो सही पढ़ जाते हैं, इसका मतलब है कि

वे अक्षर और शब्दों की तरफ बहुत कम निगाह डालते है। इसका साफ मतलब है कि विचार-केंद्र शुरू-शुरू मे गति-केन्द्र को पढने का काम सिखाने के लिए अगुली पकड़कर सिखाता है और जैसे ही पढ़ाई के मैदान मे गति-केंद्र ने छलागें मारना सीख लिया, वह उसकी अगुली छोड देता है और उसके काम मे कम-से-कम दखल देता है। इस तरह मशीन का काम ठीक-ठीक चलने लगता है। स्वाध्यायी इसी तरह के और कामों की जॉच कर सकता है और मशीन की गडबडी को समझ सकता है, क्योंकि बुराइयों को जाने बिना भलाइयों से कोई लाभ उठाया नहीं जा सकता।

स्वाध्यायी मशीन का यह तमाशा देखकर अच्छी तरह समझ लेगा कि कब गति के केन्द्र को विचार-केन्द्र की जरूरत है और कब नहीं। इस जानकारी के बाद स्वाध्यायी कभी ऐसा नहीं होने देगा कि गति का केन्द्र बेमतलब दूसरे केन्द्र के काम मे लगकर अपना काम विचार-केन्द्र के हाथ सौंप दे।

गति का केन्द्र भाव-केन्द्र का काम कर सकता है। और भाव-केन्द्र दूसरे और केन्द्रों का काम कर लेता है, पर बहुत कम। विचार-केन्द्र को कभी-कभी जान-बूझकर स्वभाव-केन्द्र का काम करना पड़ता है यानी Instinct का काम करना पड़ता है। साँस लेना Instinct याने स्वभाव का काम है, पर लंबी सॉस लेने के लिए विचार-केन्द्र को तोडना पडेगा। इसी तरह के और भी काम विचार-केन्द्र को करने पड़ते हैं।

स्वाध्याय के बाद आतम-चेतना जाग जाने पर मशीन के काम में बहुत अन्तर नहीं पड़ेगा। बस, यह सारा काम उस इच्छा-शक्ति के ताबे में आ जायगा, जिसने अपने-आपको पूरी तरह जीव यानी असली आदमी के मातहत कर रखा होगा।

गलत काम के नतीजे

आमतौर से जीवनभर इस मशीन के केन्द्र गलत काम करते रहते हैं। सबसे ज्यादा दौडता है विचार-केन्द्र और यही सबसे कम काम करना जानता है। इसी विचार-केन्द्र की बेपरवाही का नतीजा होता है कि हमारे मन पर या तो बाहरी प्रभाव कम गहरे पड़ते है या उल्टे सीधे पड़ते हैं या बिल्कुल नहीं पडते।

इस वजह से हमारी बुद्धि, स्मृति ठीक-ठीक काम नहीं कर पाती। इसी विचार-केन्द्र की भूल से दोनों तरह की ममता बढ जाती है और झूठ बोलने की लत पड़ जाती है।

केन्द्रों की गडवड़ी समझना और केन्द्रों के ठीक-ठीक काम को जानना, दोनों बातें स्वाध्यायी के लिए बेहद जरूरी हैं।

जिस जाग-चेतना को हमने जागना कह रखा है, उस जागने की हालत में जो हम सोचते और जानते हैं, उस सोच और जानकारी के बल पर इच्छा-शक्ति पर काबू नहीं पाया जा सकता, और उस अलाभ से नहीं बचा जा सकता, जो हर वक्त हमें होता रहता है। उस अलाभ से बचने की बात तो एक तरफ, उस अलाभ की जानकारी भी उस वक्त तक हमको नहीं हो सकती, जब तक हम अपने-आपको न पहचान लें। केन्द्रों की इस गडवड़ी की वजह से हमारी बहुत-सी शक्ति बेमतलब के कामों में लग जाती है। अगर इच्छा-शक्ति के तावे में रहकर केन्द्रों ने काम किया होता, तो आज इतना काम हो गया होता, जिसका अदाजा नहीं लगाया जा सकता और मानव-समाज बहुत कम दुःखी होता।

इच्छा-शक्ति के तीन रूप

आदमी नामी मशीन के अन्दर इच्छा-शक्ति का बडा महत्त्व है। ये तीन हालतों में रहती है—एक बिलकुल बेकार, दूसरी पुरुष के तावे और तीसरी जीव के तावे। बेकार उसे हम तब कहते हैं, जब वह किसीके तावे नहीं होती। उसका काम तो उस वक्त भी होता रहता है, लेकिन वह काम उसकी ताकत का हजार में से एक भाग भी नहीं होता। पुरुष के तावे रहकर वह उतने ही बल से काम करती है, जितने बल से जीव के तावे रहकर, लेकिन पुरुष के तावे रहकर वह जो काम करती है, उन कामों के बारे में निश्चय रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वह आदमी की भलाई के लिए ही होंगे। दुनिया के सारे आविष्कार उन्हीं लोगों के किये हुए हैं, जिनकी इच्छा-शक्ति पुरुष के तावे में थी। पुरुष के तावे में रहनेवाली इच्छा-शक्ति उतने ही बड़े-बड़े चमत्कार दिखा सकती है, जितनी वह इच्छा-शक्ति, जो जीव के तावे में हो। हम पहले कहीं कह आये हैं कि पुरुष का पुरुषत्व आदमी के पौरुष का फल है।

पर जीव का जीवत्व आदमी अपने साथ लेकर पैदा होता है। पुरुष आदमी की कमाई का पुतला होने की वजह से बुरा भी हो सकता है और भला भी, पर जीव आदमी का कमाया या बनाया हुआ नहीं है। वह जो कुछ है, है और वह जो है, भला है; अपने लिए भला है, मानव-समाज के लिए भला है, दुनिया के सारे प्राणियों के लिए भला है। वही जीव पुरुष से अलग रहकर पूर्ण ज्ञानी है, परमात्मा है, सत्य है, ईश्वर है। पुरुष के साथ रहकर भी वह पूरा भला है, पर पुरुष की बगावत में रहकर वह आदमी की तरफ से बेपरवाह हो जाता है। स्वाध्याय की यही गरज है कि उस पैदाइशी भले जीव के मातहत इच्छा-शक्ति आ जाय। जब ऐसा हो जायगा, तब आदमी से कोई बुराई नहीं हो सकेगी, आदमी का कोई काम नहीं रुकेगा, दुनियादारी में कोई अंतर नहीं आयेगा। गीता का कर्मयोगी यही आदमी है, यही गीता का स्थितप्रज्ञ है। यही जीवन-मुक्त है।

स्वाध्यायी जब जीव को ठीक-ठीक पहचान लेगा, तब अपने-आप उन सब अहमों की भीड़ छँट जायगी और उसे उस मशीन के अन्दर उस एक के दर्शन हो जायँगे, जो उस मशीन का मालिक है।

स्वाध्यायी जैसे ही उस मशीन के अंदर केंद्रों की गड़बडी को देखता है, वैसे ही वह उस खतरे का अंदाजा लगा लेता है, जो खतरा मशीन को इस बात से हो सकता है कि उसका एक केंद्र, उसकी जानकारी के बिना, दूसरे केंद्र का काम करने लगे।

अपने को पहचानना या अपनी जानकारी हासिल करना, इसके सिवा और क्या हो सकता है कि आदमी अपनी कमजोरी को जाने और अपनी बुराइयों को समझे और अपनी बुरी चालों को समझकर उनको रोकने की सोचे। यहाँ स्वाध्यायी को इतना ध्यान और रखना चाहिए कि कुछ कमियाँ और कुछ बुराइयाँ ऐसी है, जो हर पैदाइशी आदमी में मिलेंगी और कुछ ऐसी है, जो एक आदमी में मिलेंगी, दूसरे में नहीं। यह बात सिर्फ इसलिए कही गयी है कि कहीं स्वाध्यायी उन खास कमियों को गुण न समझ बैठे।

बाहरी अनुकूलता

आदमी मशीन है और इस नाते यह हो सकता है कि कोई आदमी इसे

सोलह आने मशीन समझ ले, और दूसरा उसे इसलिए मशीन समझ ले कि वह बहुत अंशों में मशीन जैसा काम करती है। इस तरह की समझ की कमी सब आदमियों में नहीं मिल सकती।

जो इस मशीन को सोलह आना मशीन समझते हैं, वह कभी यह नहीं सोच सकते कि 'आपा' नाम की कोई अलग चीज है या आदमी की मशीन में 'जीव' और 'पुरुष' अलग-अलग हैं। उसकी नजर में मशीन, मशीन है, इससे ज्यादा कुछ नहीं। ऐसा समझनेवाला न तो यह सोच सकता है कि यह इन्सानी मशीन इन्सान जैसा काम कर रही है या नहीं और न यह सोच सकता है कि इससे इन्सान जैसा काम लिया जा सकता है या इन्सान जैसा काम लिया जाना चाहिए।

वह यह भी नहीं सोच सकता कि इस मशीन में जो कमियाँ हैं, वह दूर की जा सकती हैं और उनके दूर होने से यह मशीन ज्यादा काम की बन सकती है।

आदमी की बनायी हुई मशीनों में आदमी सुधार करता रहता है, पर आदमी जब अपने को ही सोलह आना मशीन मान बैठे, तो उसमें सुधार कौन करेगा ?

इसलिए स्वाध्यायी को यह समझकर कि आदमी नामी मशीन सोलह आना मशीन है, स्वाध्याय में लगने से कुछ हाथ न आयेगा।

स्वाध्यायी को जहाँ यह समझकर चलना होगा कि यह सोलह आना मशीन नहीं है, इसका सुधार अंदर-अंदर अपने-आप भी हो सकता है, वहाँ उसे यह मानकर भी चलना पड़ेगा कि जिस तरह आदमी की बनायी मशीनों के लिए कुछ बाहरी परिस्थितियों का अनुकूल होना जरूरी है, वैसे ही इस चेतन मशीन के लिए भी कुछ बाहरी परिस्थितियों का अनुकूल होना जरूरी है। यह कितना ही ठीक क्यों न हो कि आँख देखती है और अंदर के किसी केन्द्र के सहारे देखती है और वह केंद्र किसी चेतन के हाथ में है, फिर भी चेतन, केन्द्र और आँख तीनों मिलकर अँधेरे में नहीं देख सकते, क्योंकि बाहरी परिस्थिति आँख के अनुकूल नहीं है। उल्लू या चिमगादड, जो रात को देख सकते हैं, उनकी आँख

के लिए अँधेरा अनुकूल परिस्थिति है और उजाला प्रतिकूल परिस्थिति। हर हालत मे चेतन मशीन को जड मशीन की तरह बाहरी अनुकूलता जरूरी है।

स्वाध्यायी भी बाहरी अनुकूलता के बिना स्वाध्याय के काम मे आसानी से सफलता नहीं पा सकता। स्वाध्याय में लगने से पहले या स्वाध्याय में लगे रहने की हालत मे यह ज्यादा अच्छा होगा कि वह ऐसे लोगों की सोहबत में हो, जो स्वाध्याय में लगे हों, या कम-से-कम स्वाध्याय को ठीक समझते हो। एक विज्ञान का विद्यार्थी घर में बैठकर अपने परीक्षण इतने सुभीते से नही कर सकता, जितना कॉलेज की लेबोरेटरी में। ठीक इसी तरह स्वाध्यायी अपने-आपको पहचानने में घर मे बैठकर इतनी आसानी से सफल नहीं हो सकता, जितनी आसानी से उस जगह, जहाँ लोग इसी तरह के काम मे लगेंगे। पर इसका यह मतलब हरगिज नहीं है कि घर में अकेले बैठकर स्वाध्याय हो ही नहीं सकता, न हो सकने की बात हमने कही भी नहीं, हमने आसानी और मुश्किल की बात कही है।

बाहरी परिस्थितियाँ कितनी भी काबू से बाहर क्यों न हों, उनकी वजह से स्वाध्याय का काम न रुकता है, न रुकना चाहिए। अदर के सुधार का जो थोड़ा-बहुत सुभीता हमको मिला है, वह कम नहीं है। उससे पूरा फायदा उठाया जा सकता है। अगर आदमी जरा भी हिम्मतवाला है और थोडा खुशकिस्मत है, तो हमारे अदर इतना प्रकाश जरूर है, जिसकी मदद से हमें आगे बढ़ने का रास्ता मिल सकता है। इसलिए बाहरी परिस्थितियो से परेशान होने की जरूरत नहीं।

दो तरह के प्रभाव : जीवन और विचार

आदमी में यह इच्छा कब पैदा होती है कि वह अपने-आपको पहचाने, अपनी जानकारी हासिल करे और अपने में बदलाव करने के लिए तैयार हो? यह सवाल है, जो हर आदमी के सामने आ सकता है।

इसका जवाब समझने से पहले आदमी को अपने पर एक सरसरी नजर डाल लेनी चाहिए। नजर डालते ही उसे मालूम होगा कि दो तरह के प्रभाव

उसकी जिन्दगी पर अपना असर हर वक्त डालते रहते हैं। इन दोनों तरह के प्रभावों में क्या अन्तर है, यह भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

इन प्रभावों को समझने में इस बात से बड़ी मदद मिलेगी कि हम भलाइयों की तरफ न खिंचकर बुराइयों की तरफ क्यों खिंचते हैं? बुराइयों की तरफ खिंचने की एक ही वजह है और वह यह कि बुराइयाँ आरंभ में बड़ी सुहावनी, सुखदायी तथा आकर्षक होती हैं। झूठ, चोरी, जो सबसे बुरी बातें हैं, उनसे भी आदमी एक बार तो फौरन फायदा उठा लेता है। यह दूसरी बात है कि बाद में बहुत दिनों तक उसे पछताना पड़ता है, यहाँ तक कि उसका मन ही उसको कचोटने लगता है। यह किसको नहीं मालूम कि पक्षी दाने के लालच में जाल में फँसते हैं और चूहे रोटी के टुकड़े की खातिर चूहेदान में फँसकर बिल्ली की खुराक बन जाते हैं।

इस बात को ध्यान में रखकर स्वाध्यायी उन दोनों प्रभावों से बच जायगा, जिसकी बात हम आगे कहने जा रहे हैं। वह दो प्रभाव हैं, एक आदमी का जीवन की ओर आकर्षण, दूसरा उन विचारों की ओर झुकाव, जो जीवन के साथ-साथ तो नहीं आये, लेकिन जीवन में ही दूसरों से हासिल हुए हैं।

जीवन की ओर का आकर्षण आदमी को बहुत कमजोर बना देता है। उससे जिसने भी थोड़ा आकर्षण कम किया, वह दुनिया में कहीं-से-कहीं पहुँच जाता है। इस आकर्षण को कम करने के लिए बड़े-बड़े सिद्धान्त गढ़े गये, तरह-तरह की कल्पनाएँ की गयीं। फिर वे सिद्धान्त और कल्पनाएँ कितनी भी असत्य और अधूरी क्यों न रहीं, बड़ा काम करती रहीं, कर रही हैं और करती रहेंगी। इस वजह से उधर आदमी न खिंचे तो क्या करे? जीवन की ओर खिंचाव का मतलब है, अपने स्वास्थ्य का खयाल, अपनी रक्षा का विचार, अपने आनन्द के साधन, धन-संग्रह, अभिमान की रक्षा, प्रसिद्धि की प्राप्ति इत्यादि। इन सबकी खातिर आदमी ने यह सिद्धान्त बनाये कि जो भाग्य में लिखा होता है, वही होता है या जो ईश्वर ने रच रखा है, वही होकर रहेगा। यह ठीक है कि आदमी इन सिद्धान्तों के साथ-साथ बीमार होने पर दवा-दारू भी करता है और आग लग जाने पर आग बुझाने की कोशिश भी करता है और गरीब हो जाने पर

मजदूरी या दूकानदारी कर लेता है, अभिमान को बचाये रखने के लिए लोगों के साथ बर्ताव करने में बहुत ध्यान रखता है और प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए दान देता है, समाज-सेवा में लगता है, पर जितना ज्यादा विश्वास उसे भाग्य और ईश्वर पर है या दूसरी ओर उन कल्पनाओं पर है, जो उसने बना रखी हैं, उतना इन सोचे हुए उपचारों पर नहीं है। स्वाध्यायी को अपनी पहचान में लगने के लिए इस प्रभाव को भलीभाँति समझ लेना पड़ेगा। जीवन का यह आकर्षण ही पुरुष को जीव की तावेदारी से दूर रखने की सलाह देता रहता है। हमारे मस्तक, मन और बुद्धि जब इच्छा-शक्ति को छोड़कर अपना काम अपने आप करने लगते हैं या पुरुष के हाथ में खेलने लगते हैं, तब यह बिलकुल भूल जाते हैं कि उनकी ताकत की जड कहाँ है और यह कि जीवन के आकर्षण के लिए जो कुछ वे करते हैं, उसमें उस वक्त भी कोई रुकावट नहीं आयेगी। अब वे उस इच्छा-शक्ति के तावे होकर काम करेंगे, जो जीव के लिए पूरी-पूरी वफादार होगी। स्वाध्यायी को आगे बढ़ने में बड़ी आसानी होगी, अगर उसने इस बात को साफ-साफ समझ लिया होगा। यों तो इन सब बातों का पता स्वाध्यायी को स्वाध्याय में लगकर अपने-आप भी हो सकता था, पर अब जब वह इस जानकारी के साथ अपने अन्दर दाखिल होगा, तो उसके लिए कुछ-न-कुछ आसानी हो ही जायगी।

अब रही उन विचारों की बात, जो जीवन में अपने-आप तो पैदा नहीं होते, पर कहीं बाहर से प्राप्त होते हैं। वे विचार आदमी तक अपने-आप नहीं पहुँचते। उन विचारों को अनगिनत हृदयों में और तरह-तरह के मस्तकों में से होकर आना पडता है। इस बात को इस तरह साफ-साफ कहा जा सकता है कि दुनिया के जितने दर्शन हैं, वे विचारों के सिवा कुछ नहीं हैं। उन दर्शनों में से कोई एक दर्शन भी ऐसा नहीं, जिसे हम सीधा उस आदमी से पा सकें, जिस आदमी के मस्तक में वह सबसे पहले उठा हो। इस मामले में तो हम एकदम प्रकृति के पराधीन हैं, क्योंकि जो दर्शन हमारे हाथ लगता है, वह अनगिनत मस्तकों में से होकर हम तक पहुँचता है और फिर उसका वह रूप नहीं रह जाता, जो शुरू में था। यही हाल विज्ञान, धर्म और कला का है। इनमें

मे किसीका भी शुरू का रूप हमारे सामने नहीं। हम पहले कहीं लिख चुके है कि हमारे शुरू का बाल-दर्शन, बाल-विज्ञान, बाल-धर्म और बाल-कला सबकी सब आज के प्रौढ-दर्शन, ज्ञान, धर्म और कला मे ऐसे ही मौजूद है, जैसे हर बूढ़े मे बालकपन। पर जिस तरह बालकपन ने हर बूढ़े मे अलग-अलग रूप ले रखा है, वैसे ही हर बाल दर्शन ने प्रौढ-दर्शन बनकर ऐसा अलग रूप ले लिया है कि उसके बालपने की कोई चीज न कही दिखाई देती है, न दिखाई दे सकती है।

स्वाध्यायी के सामने यह मुश्किल है जरूर, पर जब वह इस मुश्किल को ध्यान मे रखकर स्वाध्याय के काम मे लगेगा, तब यह मुश्किल भी आसान हो जायगी।

स्वाध्यायी को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हमारे मस्तक में यह दोनों प्रभाव इतने एकमेक हो गये हैं कि उनका अलग किया जाना इतना आसान नहीं, जितना आसान यह है कि उनके अलग-अलग होने की बात सुन ली जाय या किसी किताब में पढ़ ली जाय। स्वाध्यायी जब अपनी मेहनत से इन दोनों में अतर करेगा, तब उसे बडा आनद आयेगा।

इन दोनों की एकमेकता आदमी में इतनी गहरी पहुँच गयी है कि वह किसी एक को दोनों मान बैठता है यानी कभी जीवन की ओर खिंचकर वह यह समझता है कि वह दर्शन, विज्ञान, धर्म और कला की सेवा कर रहा है और कभी दर्शन, विज्ञान, धर्म और कला मे लगकर जीवन की ओर से बेपरवाह रहकर भी यह समझता रहता है कि वह ठीक ठीक जीवन बिता रहा है। इस वजह से आदमी कई तरह के हो जाते है।

लीजिये, हम एक को जीवन-प्रभावी मान लेते हैं और दूसरे को 'विचार-प्रभावी।

अगर एक आदमी पूरी तरह जीवन-प्रभावी बना हुआ है और जरा भी विचार-प्रभाव की ओर नजर नहीं डालता, तो जैसे-जैसे वह उम्र में बढ़ता जाता है, वैसे वैसे यह संभावना कम होती जाती है कि वह गुणो में उन्नति कर सकेगा। कभी-कभी ऐसा होता है कि बहुत छोटी उम्र में आदमी जीवन से

इतना चिपट जाता है कि वह यह समझने की कोशिश नहीं करता कि जीवन का उद्देश्य क्या है। ऐसे आदमियों के लिए आत्मज्ञानियों ने यह बात कही है कि वह 'जीते हुए भी मरे के समान है'। बीज अगर भून दिया जाय, तो फिर वह बोया नहीं जा सकता। बीज भुनने पर बीज बना रहेगा, पर ऐसा बीज, जिसमें बीजपना नाम को नहीं होगा। बीज जब तक अपने बीजपने की याद न करे, न अंकुर फोड़ सकता है, न पेड़ बन सकता है। सब आदमी भुने हुए बीज न भी हों, तब भी ऐसे बीज जरूर हैं, जिन्हें अपने बीजपने का बिलकुल ध्यान नहीं है। इसलिए वे सब दूसरों के दास बने हुए अपना जीवन बिताते हैं और ऐसे ही मर जाते हैं, जिस तरह वह गेहूँ के दाने, जो खेत में पड़कर पौधा बनने की जगह चक्की में पिसकर आदमी के पेट में पहुँच जाते हैं।

अगर आदमी जीवन-प्रभावी नहीं है और पक्का विचार-प्रभावी है और उसी धुन में मस्त रहता है, तो उसके मन पर जो बातें अंकित होंगी, वे सब मिलकर उसी तरह की और बातों को अपनी तरफ खींचेंगी। उसका मस्तक उसी अंश में जोरदार बनता जायगा। अब अगर विचार-प्रभाव खूब जोरदार हो गये और सब मिलकर एक हो गये, तो उसमें अपने-आप एक आकर्षण-केन्द्र बन जायगा, जिसको यों भी कहा जा सकता है कि अब आदमी के अन्दर रहनेवाला पुरुष इच्छा-शक्ति को अपने हाथ में ले लेगा और मन, मस्तक, बुद्धि सब उसके इशारे पर काम करने लगेंगे। यह है तो बड़े काम की बात, पर पूरे काम की तो उस वक्त ही हो सकती है, जब ऐसा आदमी अपने-आपको पहचाने और उस वक्त उसका पुरुष अपनी सब ताकत जीव के चरणों में डालकर उसके तावे हो जाय। इसी क्रिया को कवियों ने 'ईश्वर-अर्पण' नाम दिया है, या अपने-आपको 'ईश्वर की मर्जी पर छोड़ देना' कहकर पुकारा है।

जीव को समर्पण कर देने का काम अपने-आप कभी नहीं हुआ, अगर ऐसा हो जाया करता, तो स्वाध्याय में लगने की जरूरत न होती। पर हाँ, इस दर्जे पर पहुँचे हुए आदमी कभी-कभी आत्मज्ञान के ग्रंथ पढ़ने से या आत्मज्ञानियों के अनुभव सुन लेने या किसी किताब से पढ़ लेने पर स्वाध्याय में लगकर

आत्म समर्पण करते हुए पाये गये हैं। केवल इसी कारण उपचार से ग्रंथों का पढना 'स्वाध्याय' कहलाने लगा।

इसमें कोई शक नहीं कि ऐसा आकर्षण-केंद्र, जैसा हम ऊपर वता आये है, स्वाध्यायी मे वन जाना जरूरी है, पर यह याद रहे कि ऐसा केंद्र अपने-आप वह वात पैदा नहीं कर सकता, जिस वात के लिए स्वाध्याय शुरू किया जाता है या किया गया होता है। अगर किसी आदमी में ऐसा केंद्र न वने, या छोटा या कमजोर वने, या कई तरह-तरह के केंद्र वनें, तव वह आदमी न स्वाध्याय में लगने की वात आसानी से सोच सकता है, और आत्म-समर्पण की तो सोच ही नहीं सकता। ऐसा आदमी ग्रथों से, आत्मज्ञानियों के अनुभव से सीधी राह चलने की जगह उल्टी राह चलना सीख सकता है। यह किसको नहीं मालूम कि वड़े-वड़े डाकू और वड़े-वडे राजा कभी-कभी आत्मज्ञानियों का अनुभव सुनकर एकदम वदल जाते है और स्वाध्याय में लग जाते हैं। उसका यही कारण होता है कि उनमे किसी-न-किसी तरह आकर्षण-केंद्र वन चुका होता है और इच्छा-शक्ति पुरुष के तावे में आ चुकी होती है। यहाँ स्वाध्यायी को यह वात और समझ लेनी चाहिए कि अक्सर यह भी होता है कि आदमी अपने अन्दर आकर्षण-केंद्र वनाने के वाद आत्मज्ञान के ग्रथो से और आत्मज्ञानियों के अनुभवों से सव-कुछ सीखकर अपने आकर्षण-केंद्र को और भी वलवान् वना लेता है और फिर यह न जीवन-प्रभावी रह जाता है और न विचार-प्रभावी। एक नयी किस्म का आदमी वन जाता है और दुनिया पर इतनी धाक जमा लेता है कि दुनिया उसे भगवान् के रूप में पूजने लगती है और जीवन-प्रभावियों से भरी हुई दुनिया के लिए वह भगवान् और अवतार नहीं तो और क्या हो सकता है? क्योंकि दुनियादारो को उससे सीधा फायदा पहुँचता है। हाँ, जिन्हें सीधा फायदा नहीं पहुँचता, वह उसे अपने भगवान् से कुछ नीचे वैठाते हैं।

सत्य की खोज मे वाधक संकुचितता

एक मर्तवा पत्रकारो ने दुनियाभर के सव मुल्कों से पाँच नाम यह कहकर माँगे कि उनकी राय मे उन पाँच में से सवसे वड़ा कौन है? जिन-जिनको

जिस क्रम में वे समझते हों, लिख भेजे। इस सवाल के जवाब मे जर्मनी के पत्रकारों ने लिख भेजा, 'हिटलर सबसे बडा और उससे छोटा गाधी'। रूस के पत्रकारों ने लिख भेजा, 'स्टैलिन सबसे बडा और उससे छोटा गाधी'। अमेरिका ने सबसे बडा ट्रूमेन को बताया और गाधी को दूसरा नम्बर दिया। हाँ, हिन्दुस्तान ने गाधी को सबसे बडा बताया और बाहर के किसी एक को दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें नम्बर पर बैठाया।

यह उदाहरण देकर हम यह हरगिज नहीं कहना चाहते कि लोग इस उदाहरण के बल पर यह नतीजा निकाल बैठें कि यह सब तीसरे किस्म के ही आदमी होते है। इनमें से कोई भी न स्वाध्याय में लगा होता है, न अपने को पहचानता होता है। क्योंकि किसी दूसरे के बारे में यह कहना मुश्किल ही नहीं, बहुत मुश्किल है कि वह सत्य के जानने की कोशिश में है, या सत्य के कुछ अंश को पहचानकर आत्म-चेतना में रहना सीख गया है या नहीं।

अवतार का आकर्षण

आत्मज्ञान और आत्मज्ञानियों के अनुभव से गलत फायदा किस तरह उठाया जा सकता है, यहाँ सिर्फ इतना ही समझना और समझाना हमें अभीष्ट था। यह समझने में तो किसीको दिक्कत हो ही नहीं सकती कि यह अवतार और भगवान् कहलानेवाले आदमी कुछ यों ही भगवान् या अवतार नहीं कहलाने लगते। इनकी इच्छाशक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि जब कोई आदमी इनसे मिलने जाता है, तो उसे ऐसा मालूम होता है, मानो वह लोहे के टुकडे की तरह चुम्बक की तरफ खिचा चला जा रहा हो। स्त्रियाँ, जो आमतौर से जीवन-प्रभावी होती हैं, इतनी बुरी तरह उसकी तरफ खिचती है कि उनके मर्द—रिश्तेदार घबरा उठते हैं और इतनी प्रभावित हो जाती हैं कि अपना तन, मन, धन सब उसके चरणों में समर्पण करने के लिए तैयार हो जाती हैं। अब यह उस अवतार नामधारी पर निर्भर है कि वह स्त्रियों का अच्छा उपयोग करे या बुरा। उस अवतार नामधारी आदमी में यह शक्ति भी रहती है कि वह धर्मों की अपनी की हुई व्याख्या दूसरों के गले आसानी से उतार सकता है। और अपना बताया हुआ कर्मकाड सबमें फैला सकता है और अपनी सब आज्ञाओं

जीवन के बहुत काम चलते है और जब तक अन्धश्रद्धा को आँखवाली श्रद्धा नहीं बनाया जायगा, तब तक आत्मोन्नति नहीं हो सकेगी। अब जिसको आत्मोन्नति करना है, उसके लिए यह एकदम जरूरी है कि वह अन्धश्रद्धा में पड़ा-पड़ा न सड़ता रहे।

आदमी में जब उन्नति की लगन जोर मारने लगे, तब उसके लिए यह ज्यादा ठीक है कि वह देश्रद्धा के रहे और किसी तरह अंध-श्रद्धा को न अपनाये। अन्ध श्रद्धा तो उनके काम की चीज है, जो दुनिया में आकर कुछ न करके मर जाना चाहते है। पर जो कुछ करना चाहते हैं, उनके लिए अन्ध-श्रद्धा निकम्मी चीज है।

स्वाध्यायी की गरज यह हरगिज नहीं होनी चाहिए कि वह अपने को पहचानना साध्य बना ले। जिस तरह एक आदमी अणु की खोज में अपनी सारी उमर बिता सकता है, उसी तरह एक आदमी अपने को पहचानने में अपना एक जीवन नहीं, कई जीवन लगा सकता है और हम यह कह सकते हैं कि इतना होने पर भी उसके हाथ जो कुछ आयगा, वह पूरा सत्य न होगा; क्योंकि वह इस खोज में लगा होगा। 'क्योंकि' में 'किसलिए?' और 'किस उपयोग के लिए?' को जोड़े बिना स्वाध्यायी को पूरा फायदा नहीं हो सकता।

'क्योंकि' के जवाब में वह सिर्फ इतना करता है कि आत्म-पठन की पद्धति को जान लेता है, आत्म-निरीक्षण का काम सीख लेता है और इस विषय में कि वह देह से अलग है, उसकी अन्ध-श्रद्धा को एक छोटी-सी ज्ञान की आँख मिल जाती है। अन्ध-श्रद्धा अब अन्ध-श्रद्धा नहीं रह जाती। स्वाध्याय अन्ध-श्रद्धा की देन है सही, पर है अन्ध-श्रद्धा को नाश करने के लिए। जिस तरह जवानी बचपन की देन है, पर बचपन को नाश कर देती है। हाँ, तो यहाँ स्वाध्यायी को यह समझ लेना चाहिए कि वह आत्म-निरीक्षण, आत्म-पठन पद्धति और आत्मा की हलकी जानकारी को साध्य मानकर बैठा न रहे। 'क्योंकि' के जवाब में इससे ज्यादा उसको कुछ नहीं मिल सकता। अगर वह चाहे कि अपने काम में अपनी सूझ से वह कोई काम कर सके, तो उसको इस सवाल का जवाब ढूंढ़ना पड़ेगा कि वह स्वाध्याय में 'किसलिए लग रहा है?' क्योंकि कोरा श्रद्धान कभी

बिलकुल अयोग्य हैं, दूसरे वे, जो सच्चे जी से सत्य की खोज में लगे हुए हैं, और जिन्होंने सत्य की झाँकी अपने जीवन में एक से ज्यादा बार पा ली होती है।

स्वाध्याय मे लगने के कारण

स्वाध्यायी को स्वाध्याय मे लगने से पहले यह जरूर समझ लेना चाहिए कि वह स्वाध्याय में क्यों लग रहा है? किसलिए लग रहा है? और जिसलिए लग रहा है, उससे किस तरह काम लेगा? ये तीनो बातें बेहद जरूरी है। इन तीनों में से कोई एक भी अगर पहले से तय नहीं कर ली जायगी, तो स्वाध्यायी बहुत टोटे में रहेगा। इसलिए उन तीनों बातो को अच्छी तरह समझना चाहिए।

(१) आदमी स्वाध्याय में इसलिए लगता है कि वह अपने को पहचान ले, पर अपने को पहचानना अगर जीवन का साध्य हो, तो उस बेकार आदमी को इस दुनिया में ऐसे धर्म मिलेंगे, जो आत्मसिद्धि को साध्य मानते हैं, जिन्होंने मुक्ति को अपना आदर्श मान रखा है और उस मुक्ति का जो काल्पनिक चित्र खींचा है, उसमें जीव को पुरुष से बिलकुल अलग कर लिया है और दुनियादारी के किसी काम का नहीं रखा। दुनियादारो के लिए वह जीव हर तरह जड़ बना दिया गया है। और फिर उसके साथ बेहद ज्ञान, बेहद सुख और बेहद ताकत जोड दी गयी है। जिन गुणों को उसके साथ जोड़ा गया है, वह न दुनियादारों के किसी काम के है और न खुद उसके किसी काम के। ऐसे आदर्श को लेकर अगर स्वाध्यायी अपनी पहचान करने में लगा, तो उसके हाथ जो चीज पडेगी, वह पूरा सत्य न होगा। स्वाध्यायी को स्वाध्याय में सिर्फ इस गरज से लगना चाहिए कि वह अपने को पहचान ले, जिससे कि उसको देह से अपने अलग होने पर पूरा-पूरा विश्वास हो जाय।

आत्मा है, यह विश्वास तो बहुत आदमियों के खून में मौजूद है और उस विश्वास के बीज को ग्रथों, गुरुओं और समाज का पानी भी मिलता रहता है, पर जब तक उसे अपनी जानकारी का प्रकाश नहीं मिलेगा, तब तक उसमें अंकुर नहीं निकलेंगे, यह इसलिए कि अपनी जानकारी बेहद जरूरी है।

आत्मा है, यह अधश्रद्धा है। अधश्रद्धा बडे काम की चीज होती है, उससे

सकता है। उसे यह कला अच्छी तरह आनी चाहिए कि वह आदमियों के साथ रह सके, मिल-जुलकर रह सके, खुश रह सके और उनके साथ हिल-मिलकर काम कर सके।

स्वाध्यायी जब इस बात को सामने रखकर स्वाध्याय में लगेगा, तब आत्म-शक्तियों के बड़े-बड़े भेद उसके सामने अपने-आप खुलने लगेंगे। असल में आत्मा की शक्तियाँ अपार हैं, पर हरएक को मिलती उतनी ही हैं, जितनी वह इच्छा लेकर चलता है और जितनी उसमें पात्रता होती है।

आत्म-जानकारी का उपयोग

(३) 'वह आत्म-जानकारी का क्या उपयोग करेगा ?' यह तीसरी बात जब तक स्वाध्यायी के सामने न होगी, तब तक आत्म शक्तियों की जानकारी पर वह पूरा ध्यान न दे सकेगा। अगर यह उद्देश्य उसके सामने रहा, तो वह शुरू से ही अपने हर श्रद्धान और हर जानकारी का उपयोग समाज के लिए करना शुरू कर देगा और उसके जो नतीजे होंगे, उससे उसके श्रद्धान और ज्ञान को दिनोंदिन बल मिलने लगेगा।

कुछ स्वाध्यायी ऐसे भी मिलेंगे, जो स्वाध्याय में लगने से पहले या अपनी कुछ भी विशेष जानकारी के बिना अपनी शक्तियों का उपयोग समाज के लिए करना शुरू कर देते हैं। वह काम तो बहुत कर जाते हैं, पर वह अपने सारे काम, कई गुना परिमाण में, और कई गुना अच्छा कर जाते, अगर उन्होंने अपने किये हुए को उस ज्ञान से परखा होता, जो उन्हें उस स्वाध्याय से मिल सकता था, जो उन्होंने खुद की होती। यानी समाज-सेवक अगर स्वाध्याय शुरू कर दें और फिर वह समाज के लिए काम शुरू करेंगे, तो समाज को बेहद फायदा हो, और समाज सैकड़ों अन्ध-श्रद्धानों की झंझट से बच जाय, पर होता यह है कि समाज-सेवक आत्म-पठन नहीं करता और आत्मपाठी समाज-सेवा में नहीं लगता।

समाज-सेवा का क्षेत्र ऐसा है, जहाँ आत्मपाठी अपने आत्मज्ञान का नवी-नयी सूझ के अनुसार उपयोग कर सकता है, और ज्ञान का यह उपयोग उसके श्रद्धान और ज्ञान को बल दे सकता है।

असल में अगर हमारा स्वाध्याय सिर्फ अपने लिए हो, तो लाभ एक होगा और अगर वही स्वाध्याय मिल-जुलकर किया जाय, तो और अगर स्वाध्याय के साथ-साथ उपयोग भी होता रहे, तो हजार लाभ होगा। हमारी अपनी भलाई समाज को अलग करके कुछ नहीं रह जाती। व्यक्ति का समाज से अलग कोई उपयोग नहीं, इसलिए स्वाध्यायी को चाहिए कि वह 'क्यों ?', 'किसलिए ?' और 'कैसे उपयोग करेगा ?' इन तीनों बातों की खातिर अपनी जानकारी हासिल करने में लगे। अगर उसने ऐसा नहीं किया, तो उसके हाथ कुछ न लगेगा।

यह बात हमें बहुत पहले कहनी चाहिए थी, पर हमने जान-बूझकर वह इस वक्त कही है, क्योंकि आगे जिस काम के लिए स्वाध्यायी को तैयार होना है, वह ऐसी है, जिसको समझने और इसमें लगने के लिए जरा ज्यादा बल की जरूरत होगी।

अब हम फिर उन केन्द्रों की तरफ आते हैं, जिनकी उन्नति स्वाध्याय का उद्देश्य है। अब क्या यह सभव है कि अगर हमे कोई साथी न मिले या अपने उपयोग के लिए समाज न मिले, तब भी हम स्वाध्याय से पूरा-पूरा फायदा उठा सकें ? हाँ, पूरा-पूरा नहीं तो बहुत ज्यादा फायदा जरूर उठाया जा सकता है, पर यह शर्त बिलकुल जरूरी है कि 'क्यों', 'किसलिए' और 'कैसे' की भावना लेकर स्वाध्याय मे लगा जाय। अपने श्रद्धान और ज्ञान का उपयोग अगर हम अपने ऊपर करने लगें, तो यह कम मार्के की बात न होगी, क्योंकि हमको अपने इष्ट-मित्रों के साथ रहना ही पड़ेगा और थोड़ा-बहुत समाज में भी मिलना पड़ेगा, तब हमारी जानकारी आपो-आप काम में आने लगेगी, और फिर ऐसा दिन अपने-आप आ जायगा कि काम करने के लिए साथी मिल जायेंगे और वही साथी ज्ञान के उपयोग के लिए एक सगठन खड़ा कर देंगे। इसलिए इस चिंता में न पडकर हमे काम मे लगना ही चाहिए।

स्वाध्याय ही रास्ता बतायेगा

केन्द्रों के कामो की ठीक-ठीक जानकारी खुद एक ऐसी चीज है, जो उत्साह पैदा करती है और फिर आगे का रास्ता तो आपो-आप निकल आता है।

ऊपर जिन तीन बातों का जिक्र किया गया है, वे काम में सुभीता करने के लिए हैं, काम अटकाने के लिए नहीं।

अब केन्द्रों पर नजर डालिये। पहले यह समझिये कि हम जब कुछ भी सीखते हैं, तब अपनी स्मृति के भंडार में कुछ जमा करते हैं। अब यह सवाल होता है कि यह स्मृति क्या चीज है और इसका भंडार कितना बड़ा है और उसमें क्या-क्या है ? इन सवालों के जवाब में जो कुछ कहा जायगा, वह बहुत कुछ ऐसा मालूम होगा कि कोरी कल्पना है, पर किया क्या जाय ? अनुभवों को जब शब्दों का रूप दिया जाता है, तब वह सचमुच वैसा नहीं होता, जैसा स्वाध्याय में अनुभव हुआ होता है। ठीक-ठीक वह क्या रूप है, यह तो स्वाध्यायी खुद ही जानेगा। हमारा कहा हुआ तो उसके समझने में हल्का सहारा हो सकता है।

स्मृति क्या है ?

स्मृति को समझने के लिए हमें हर केंद्र को अलग-अलग और स्वाधीन मशीन मानकर चलना होगा। आज फोनोग्राफिक रोल्स (Phonographic rolls) बन गये हैं यानी ऐसी फिल्म, जो आवाज को पकड़ लेती है। उन फिल्मों के उदाहरण से मदद लेनी होगी। अब यह समझ लीजिये कि हमारे हर केंद्र की मशीन पर शब्दों के पकड़ने की फिल्म चढ़ी हुई है। जो कुछ हम सुनते, देखते, छूते या सूँघते हैं, उन सबके निशान इन फिल्मों की मूठों पर बन जाते हैं। इसका यह मतलब हुआ कि चाहे बाहर की बातें हों, चाहे अन्दर की, सबकी सब इन फिल्मों पर अपना कुछ-न-कुछ निशान जरूर छोड़ जाती हैं। अब यह निशान गहरे, कम गहरे, बहुत कम गहरे या नाम के लिए गहरे हो सकते हैं, पर वे वहाँ हैं जरूर, और ये निशान हमारी दौलत हैं। जो कुछ हम जानते हैं, जो कुछ हमें आता है, जो-जो हमारे अनुभव हैं, सब हमारी याद की मूठों में दर्ज हैं। यही हाल हमारे विचारों का है, हमारे अनुमानों का है, हमारी गिनतियों का है, हमारे भावों का है। हम दिनभर करते ही क्या हैं ? याद की इसी मूठ में से कभी कुछ निकाल बैठते हैं और कभी कुछ, कभी किसीको

समझने लगते हैं, कभी किसीको। ऐसा कभी होता ही नहीं कि हम ऐसी कोई बात कह जायँ, जो हमारी याद की मूठ पर न हो। हमारी हर बात किसी-न-किसी निशान से या किन्हीं अनेक निशानों से मिलकर बनी हुई होती है, हम न कोई नया आविष्कार कर सकते हैं, न कोई कल्पना खड़ी कर सकते हैं, जो ऐसी हो कि हमारे उन निशानों से न बन सकती हो, जो हमारी याद की मूठ पर मौजूद है।

याद करके जब हम कोई बात कहते हैं, तो वह बात ही क्यों याद आती है, जिसे हम उस समय कहना चाहते हैं? इसकी वजह यह होती है कि जिस सिल-सिले में जो निशान बने होते हैं, अगर उसी सिलसिले की कोई बात बाहर चल पड़े या किसी वजह से हमारे अन्दर खड़ी हो जाय, तो उस सिलसिले के सब निशान याद की मशीन पर ऊपर आ जायँगे और हमारे या तो मन में घूमने लगेंगे या मुँह के जरिये बाहर निकलने लगेंगे।

हम पहले कहीं कह चुके हैं कि हमें ठीक-ठीक वही बातें याद रहती हैं, जो हमने उस वक्त सुनी हों, जब हम चेतना में हों यानी जब आत्म-चेतना की बिजली कौंध रही हो। यह सबको मालूम है कि कुछ बातें हमको पक्की याद रहती हैं और कुछ कच्ची। इसकी वजह यही होती है कि जितनी जिस वक्त चेतना जागी हुई होती है, उतना ही गहरा निशान उसका हमारी याद की फिल्म पर बनता है। इतना ही नहीं, चेतना के वक्त हम जिन बातों को सुनते या जो कुछ अनुभव करते हैं, उन सबके निशान आपो-आप स्मृति-फिल्म पर ऐसी जगह बनते हैं, जहाँ उसी तरह के निशान और भी मौजूद हों और अगर ऐसा हमेशा होने लगे, तो थोड़े दिनों में हमारे ज्ञान का भंडार बेहद उपयोगी हो जाय। जितने निशान हमारी स्मृति-फिल्म पर बने हुए हैं, वह इतने बहुत हैं कि और ज्यादा की हमें बरसों जरूरत नहीं हो सकती, पर वह सब निशान ऐसे बे-सिलसिले और बेतुके बने हुए हैं कि उनका इतना उपयोग भी नहीं हो सकता, जितना घड़ेभर पानी में से एक बूँद का। छापाखाने मे भरे हुए अक्षरों के टाइप जैसे बेकार हैं, वैसे ही हमारे वे सब निशान बेकार है। जैसे कम्पोजिटर अक्षर के उन्हीं टाइपों से शब्द और वाक्य बना लेता है, वैसे ही स्वाध्यायी आत्म-जानकारी

के बल पर पुरुष को इतना योग्य बना देगा कि वह इच्छाशक्ति की मदद से सारे निशानों का कम्पोजिटर की तरह ठीक-ठीक उपयोग कर सकेगा।

ज्ञान-भंडार की जानकारी और उपयोग

यह है तो अचरज की बात कि लगभग हरएक आदमी ज्ञान का भण्डार है और जो ज्यादा मूर्ख दिखाई देता है, हो सकता है, उसका ज्ञान-भण्डार मामूली ज्ञानी के भण्डार से सवाया-ड्योढ़ा हो, पर चूँकि उसको अपने भंडार से काम लेना नहीं आता, इसलिए वह मूर्ख कहलाता है। जैसे कंजूस करोड़पति उदार लखपति के मुकाबले में गरीब जँचता है, वैसे एक आदमी अपने ज्यादा ज्ञान के भण्डार की तरफ से अजानकार ज्यादा मूर्ख कहा जायगा उस आदमी से, जिसका ज्ञान-भण्डार तो कम है, पर उसे अपने भंडार की जानकारी ज्यादा है। इसलिए वह मूर्ख नहीं समझा जाता।

भंडार की जानकारी के लिए ही स्वाध्याय है। स्वाध्याय बाहर से ज्ञान लाकर नहीं देता। स्वाध्याय आदमी को उसके ज्ञान-भंडार का दर्शन कराकर नहीं रह जाता, वह उसका उपयोग करना सिखाता है। किसी आत्मज्ञानी ने अपने अनुभव का निचोड़ कुछ ही शब्दों में कितनी अच्छी तरह दे दिया है कि मिथ्या श्रद्धान से सारा ज्ञान मिथ्या ज्ञान बना रहता है और जैसे ही मिथ्या श्रद्धान सत्य श्रद्धान हुआ कि सारा ज्ञान सत्य ज्ञान हो जाता है। मिथ्या श्रद्धान इसके सिवा और कुछ नहीं कि जब-जब आदमी नींद-चेतना या जाग-चेतना में रहता है, तब तक या तो वह यह समझता रहता है कि उसकी देह ही सब कुछ है या समझता रहता है कि उसका मस्तक, मन और बुद्धि ही सब कुछ है। सत्य श्रद्धान इसके सिवा और क्या है कि आदमी यह समझने लगे कि बुद्धि के परे कुछ है और वह खुद, वह है।

अब यह बात समझ में आ गयी होगी कि हम ज्ञान के भंडार हैं, पर हमको यह नहीं मालूम कि हमारे भंडार में कौन चीज कहाँ रखी है। इसलिए हम ज्ञानी होते हुए भी अज्ञानी हैं। स्वाध्याय इसी अज्ञान को दूर करने के लिए है।



चौथा अध्याय

केन्द्रों की गति और स्वाध्याय का आरम्भ

स्वाध्यायी का मार्ग

आदमी की जडदेह, जो मशीन का रूप लिये हुए है और वह मशीन जिसके काबू में है, उसीको हम 'पुरुष' कहते चले आ रहे हैं। और यही पुरुष किसीमें कम और किसीमें ज्यादा जागा हुआ है। कम जागे हुए से हमारा मतलब है कि उसके मन, मस्तक और बुद्धि काम तो करते है, पर इस ढंग से, जिस तरह कि स्वभाव और गति। ज्यादा जागे हुए से हमारा मतलब है, जिनके मन, मस्तक और बुद्धि बहुत कुछ उनके काबू में हैं और जिन्होंने अपनी इच्छाशक्ति पर खासा अधिकार पा लिया है। इस तरह का जागा हुआ आदमी दुनिया में ऊँची-से-ऊँची जगह पा सकता है। पर इस तरह से जागे हुए आदमी को गीताकार और उपनिषद्कार ने सोता हुआ ही माना है। सिर्फ इस वजह से कि गीताकार या उपनिषद्कारों ने इतने बडे आदमी को सोता हुआ माना है, हम भी सोता हुआ मान लें, यह बात नहीं है। दुनिया-में मशहूर हो जाना और बात है और दुनिया को सुखी बना जाना और बात है। हिटलर ने अपने समय में कम प्रसिद्धि नहीं पायी, पर उसकी वजह से न जर्मनी ही ज्यादा सुखी हो पाया और न दूसरे देश ही। हिटलर ने दूसरे देशों को सुखी बनाने की कभी जिम्मेदारी नहीं ली, पर वह अपने देश को भी कहाँ सुखी बना पाया? और वह अब भी कहाँ सुखी है? सारी दुनिया के सुख को सामने रखकर अपनी खोज में लगना ही स्वाध्याय है। पर मुश्किल यह है कि जो भी इस आदमी नामी मशीन के स्वाध्याय में लगता है, वह पुरुष के स्वाध्याय में लग जाता है और उस जीव का स्वाध्याय छोड देता है, जो पुरुष से कहीं बढकर है और जिसके हाथ में इस मशीन का इन्तजाम रहने से आदमी सुखी हो सकता है और दुनिया को भी सुखी बना सकता है।

स्वाध्याय में लगना चाहिए, जीव के जानने के लिए ही। वह जीव कभी समझ में नहीं आ सकता, जब तक इस जड मशीन को अच्छी तरह न समझ लिया जाय और जड मशीन के साथ उस पुरुष को न समझ लिया जाय, जो आकांक्षाओं का भण्डार है। स्वाध्यायी के रास्ते में मुश्किल यह है कि जैसे ही वह इस मशीन को खोल खोलकर पढने लगता है, वैसे ही वह अचरज के बड़े-बड़े मैदानों में जा पहुँचता है और जहाँ जरा भी मशीन के किसी एक पुर्जे का ठीक-ठीक हाल मालूम हुआ और उसका चलाना आया कि वैसे ही वह उसके खेल में ऐसी बुरी तरह मस्त हो जाता है, जैसे छोटा बच्चा बिजली के बल्ब को जलाने और बुझाने में लग जाता है। इस खेल में वह अपनी पहचान नहीं कर पाता। पुरुष की जानकारी और मशीन की जानकारी उसे इतनी भली मालूम होती है और इतनी काम की मालूम होती है कि उससे आगे जाने की वह सोचता ही नहीं। मशीन की जानकारी के बल पर वह नये-नये प्रयोग करने लगता है। उन प्रयोगों से दुनियादारी में बडा फायदा होता है; इसलिए वह उसीमें फँस जाता है। इसीका नाम ऋद्धि-सिद्धि है। हठयोग पुरुष-ज्ञानी की देन है। हठयोग की सब क्रियाएँ इतनी रोचक हैं कि उनमें लगकर आदमी अपने को भूल जाता है। हठयोग के माने हैं, सारे शरीर पर इस तरह अधिकार जमा लेना कि उससे जिस तरह चाहे काम ले लिया जाय। बस, स्वाध्यायी काम लेने के चक्कर मे फँस जाता है और उसकी आत्मोन्नति रुक जाती है।

आज के विज्ञानो का भी यही हाल है। अणु को तोड़ते ही उन्हें सूझा, तो पटाखा बनाना सूझा और उस पटाखे से काम लिया देशों के नाश करने का। इसी तरह स्वाध्यायी अपनी देह की मशीन के केन्द्रो को ठीक-ठीक समझकर ऐसे काम लेने लगता है, जो दूसरों के लिए दुःखदायी हो जाते हैं। जिस तरह एक देश का विज्ञानी एटम बम बनाकर दूसरे देश को दुःखी बनाता है और यह नहीं समझता कि दूसरे देश के दुःखी बन जाने के बाद वह खुद किसी तरह सुखी नहीं रह सकता, ठीक इसी तरह स्वाध्यायी हठयोग की क्रियाएँ सीखकर दूसरों को दुःखी बनाकर यह नहीं समझता कि दूसरों के दुःखी रहते वह खुद कभी सुखी

नहीं हो सकता। इसलिए उसकी सारी मेहनत बेकार चली जाती है और दुनिया उतनी ही दुःखी रहती है, जितनी हमेशा से चली आयी है।

आगे हम थोड़ा-बहुत चक्रों का जिक्र करेंगे। इसलिए स्वाध्यायी को हम आगाह कर देना चाहते हैं कि वह उन क्रियाओं को ज्यादा महत्त्व न दे। उस क्रम को थोड़ा-बहुत समझकर आगे बढ़े और उसको पहचाने, जो आदमी का सार है और जो आदमी साथ लेकर पैदा हुआ है और जो सारे देह की जान है और जिसके तावे में रहकर पुरुष और मशीन ठीक-ठीक काम कर सकते हैं और जिसकी तावेदारी से आदमी खुद सुखी हो सकता है, दुनिया को सुखी बना सकता है और जिस सार को हमने इस किताब में जीव नाम से लिखा है।

पहले अध्यायों में हमने तीन हालतें यानी नींद-चेतना, जाग-चेतना और आत्म-चेतना गिनायी हैं और चार काम गिनाये हैं यानी विचार, भाव, स्वभाव और गति। और उसके आगे केन्द्रों का जिक्र किया है। इन केन्द्रों के बारे में इस अध्याय में थोड़ा विस्तार के साथ कहा जायगा।

हर केन्द्र शरीर के हर भाग मे

वास्तव में हर केन्द्र सारी देह मे फैला हुआ है। अगर ऐसा न होता, तो सारी देह का इंतजाम ठीक-ठीक न हो सकता। फिर भी स्वाध्याय के अनुभव से ऐसा पता चलता है कि हर केन्द्र एक खास जगह से काम करता है। जिस तरह किसी पत्थर को डोरी में बाँधकर लटका दिया जाय और हिला दिया जाय, तो वह घूम-फिरकर हमेशा उसी जगह आ जायगा, जहाँ उसे रहना चाहिए। बस, उस जगह का नाम केंद्र है। केन्द्र याने गुरुत्वाकर्षण का बिन्दु। साइटिका नाम की बीमारी में दर्द तो सारी टाँग में होता है, पर दर्द की जड़ टाँग के सबसे ऊपरी हिस्से मे होती है। कुछ इसी तरह का हाल केन्द्रों का है। विचार करने की शक्ति देह के हर भाग में मौजूद है, पर स्वाध्यायी को मालूम ऐसा होगा, मानो वह मस्तक में ही है। अपढ़-से-अपढ़ जब कुछ सोचने लगता है और थकान मालूम करता है, तो उसका हाथ सिर पर जाता है, मानो सोचते-सोचते उसका सिर थक गया हो। सोचने में सिर ही थकता है और सोचने का केन्द्र

उसने जो कुछ अनुभव किया होता है, वह उस अदेखी मान्यता के बगैर पूरा-पूरा नहीं समझा जा सकता। यही दिक्कत स्वाध्यायी के सामने आयेगी कि उसको हर कदम पर एक-न-एक चीज ऐसी माननी पड़ेगी, जो उसकी जानी-बूझी हुई नहीं होगी। यहाँ हम भी केन्द्रो के बारे मे जो बात कहेंगे, वह जानी-बूझी हुई नहीं है, पर वैसा माने बगैर आगे रास्ता नहीं मिलता।

सारे केन्द्र एक-दूसरे से मिलते-जुलते है, पर हरएक में कुछ-न-कुछ ऐसी बात जरूर है, जिसकी वजह से वह दूसरे से अलग किया जा सकता है और यह विशेपता स्वाध्यायी अपने अनुभव से जान लेगा। एक विशेपता उसे और भी मिलेगी और वह यह कि उनके काम करने की चाल मे जमीन-आसमान का अन्तर मिलेगा यानी एक केन्द्र जिस काम को पलक मारते कर लेता है, दूसरा उसी काम को घंटो में भी नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए विचार-केन्द्र उसको बडा सुस्त दीख पड़ेगा और गति और स्वभाव-केन्द्र उससे कहीं ज्यादा तेज मिलेंगे और भाव-केन्द्र तो उससे भी ज्यादा तेज मिलेगा। और फिर यह भी पता चलेगा कि वही भाव-केन्द्र, जो सबसे तेज चलता है, सपनों मे उसकी चाल बहुत कम हो गयी है और इतनी भी नहीं रह गयी, जितनी स्वभाव और गति की चाल होती है।

रेखागणित का बिंदु

चाल की बात हम कह तो गये, पर यह चालें भी विचार-क्षेत्र को लाँघकर कर्म-क्षेत्र मे नहीं आ सकतीं यानी अगर कोई इन चालों को ठीक-ठीक नापना चाहे, तो आज तक के विज्ञान के पास कोई ऐसा औजार नहीं है, जो उनको ठीक-ठीक नापकर बता सके। स्वाध्यायी को चाहिए कि वह उनकी ठीक-ठीक नाप-तोल के चक्कर मे न पड़े और आगे बढ़े। एक समय था, जब उस समय के विज्ञानी इस बात की कोशिश में लगे कि पृथ्वी से चन्द्रमा कितनी दूर है और उन्होंने किसी तरह उस दूरी का पता लगा लिया। फिर इस कोशिश मे लगे कि सूरज की दूरी जानी जाय और अपनी तसल्ली करने के लिए उन्होंने यह जान लिया कि सूरज चन्द्रमा की दूरी की अपेक्षा १९ गुना दूर है। पर

आज का विज्ञान सूरज को चन्द्रमा की अपेक्षा ३७५ गुना दूर मानता है। यह कितना बड़ा अन्तर है? हो सकता है कोई स्वाध्यायी इन केन्द्रों की चाल में कुछ अन्तर तय करे और दूसरा उससे बिलकुल दूसरा ही अन्तर तय करे। तो यह अलग-अलग अन्तर स्वाध्यायी के मार्ग मे रुकावट नहीं होना चाहिए। हम यह बात इसलिए लिख रहे हैं कि हम भी कुछ मानकर चलेंगे, पर वह ऐसी चीजें नहीं होनी चाहिए, जो दूसरे स्वाध्यायियों की जाँच मे हमारे जैसी ही उतरें। हमारा भार तो सिर्फ इस पर ही है। हमारी किताब पढ़कर आदमी अपनी पहचान करने में जुटे और फिर हमारी इस किताब को बिलकुल भूल जाय।

केंद्रों की गति

एक केंद्र दूसरे केंद्र से बहुत तेजी से चलता है। इसमे अचरज की कोई बात नहीं और इस बात की मामूली जानकारी के लिए हमें अंदर नजर डालने की जरूरत नहीं। हम ध्यान से देखे, तो हमें अपने रोज के कामों में यह बात देखने को मिल जायगी। हमारे पढ़नेवालों मे से हरएक को अनुभव होगा कि आँख हमेशा चोट खाने से बच जाती है। यानी हमारा स्वभाव इतनी तेजी से काम करता है कि वह ऑख को चोट से बचा लेता है। अगर आँख बचाने का काम विचार-केंद्र के सुपुर्द कर दिया जाय, तो चोट खाकर होनेवाले काने और अधों की गिनती बेहद बढ़ जाय। इसी तरह जब कोई आदमी साइकिल पर सवार होकर भीड में गुजरता है, तब उसके स्वभाव की चाल का अदाजा लगाइये, कितनी फुर्ती से उसके ऑख, कान और हाथ काम करते हैं। मोटर-साइकिल पर सवार होकर यही फुर्ती कई गुना ज्यादा बढ़ी हुई दिखाई देगी। इनके देखने से इस बात का पता चलता है कि हमारा स्वभाव केंद्र विचार केंद्र से कई गुना तेजी से काम करता है। अब रही यह बात कि वह कितनी तेजी से काम करता है। इसका चाहे अंकों में ठीक पता न लग सके, पर इसमें शक नहीं कि वे एक-दूसरे से दसियों-सैकड़ों नहीं, हजारों गुना तेज है। चाल की तेजी का यह अतर प्रकृति मे और जगह भी देखने को मिलता है। आवाज की चाल जितनी है, प्रकाश की चाल उससे बहुत ज्यादा बढ़ी-चढ़ी है।

सिर में ही है, यह वह अपढ़ कैसे जान गया? यह वह माँ के पेट से सीखकर आया है। पर यह देन उसे जीव से सीख मे नहीं मिली, पुरुष से मिली है। स्वाध्याय सिर्फ इसलिए है कि आदमी पुरुष से पायी हुई सारी जानकारी पर जीव की रजिस्ट्री करा ले। जीव को पहचान लेने से यानी अपने को पहचान लेने से दुनिया के विज्ञान को बिलकुल ठेस नहीं लगेगी। विज्ञान अब से ज्यादा तेजी से आगे बढ़ेगा। होगा सिर्फ इतना कि सारे विज्ञान का उपयोग आदमी के सुख के लिए होने लगेगा, जो जीव की जानकारी न होने की वजह से दुःख के लिए हो रहा है।

विचार-केन्द्र का स्थान

विचार-केन्द्र मस्तक में है सही, पर सिर्फ मानने के लिए। हठयोग ने भी जो छह चक्रों को माना है, उनका भी यही मतलब है कि चक्रों से पैदा होनेवाली शक्ति सारी देह में मौजूद है। पर उस तरह की शक्ति का केन्द्र उसी जगह है, जहाँ चक्र का स्थान मान लिया गया है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, तीनों नाड़ियाँ ऐसी मिली हुई हैं और शुरू से आखिर तक मिली हुई हैं कि बस, कहने के लिए ही अलग हैं। रेखागणित की रेखा कहने के लिए चौड़ी नहीं है, पर वैसी रेखा खींची नहीं जा सकती। इसलिए जिन चीजों के विचार और बुद्धि से भाग किये जा सकते हैं, उनके हाथ से भाग नहीं हो सकते और इसलिए उनको ज्यों-का-त्यों नहीं समझना चाहिए। उनसे काम का पाठ लेकर आगे बढ़ना चाहिए।

भाव केन्द्र का स्थान

विचार-केन्द्र की तरह भावों का केन्द्र हृदय मे है और इस मामले मे भी अनपढ़ से अनपढ़ जब प्रेम-भाव में मस्त होता है, तो उसका हाथ छाती के उस हिस्से पर जाता है, जहाँ धड़कनेवाला दिल रहता है। यह भाव हृदय से ही उठते हैं। यह उसने किताब से सीखा हो, ऐसा नहीं। यह ज्ञान भी उसके साथ जन्म से है और मरने तक रहेगा।

स्वभाग और गति केन्द्रों का स्थान

इन दोनों कामों की तरह हमारे साहजिक काम और हमारी गतियाँ जितनी हमारे देह में होती रहती हैं या देह से होती रहती हैं, उसका केन्द्र रीढ़ की हड्डी में है। इस मामले में भी अनपढ़-से-अनपढ़ पाँव के काम से थक जाने पर भी अपना हाथ पीठ के उस हिस्से पर ले जाता है, जहाँ रीढ़ की हड्डी का अन्त होता है। हमने एक बार कलकत्ते में एक अमरीकी को देखा था कि वह सब बीमारियों का इलाज रीढ़ की हड्डी को इस तरह ठोंक-पीटकर करता था, जिस तरह लोग तबले और ढोलक को ठीक करते हैं। स्वाध्याय से भी ऐसा मालूम होगा कि यह रीढ की हड्डी ही है, जो इस मशीन के हलन-चलन का काम करती है या जो हमारे भोजन को खून और मास में बदलती है या जो रात में हमारी देह का सारा काम करती रहती है।

केन्द्रों का मिला-जुलापन

आज का विज्ञान हठयोग के नतीजों से तो सहमत है, पर जो चक्र और नाडियाँ बतायी गयी हैं, उनको वह ज्यों-का-त्यों नहीं मानता। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि हठयोग की कल्पना असत्य है। अगर साइटिका का बीमार यह कहे कि उसकी सारी टाँग मे दर्द है, तो वह असत्य नहीं कहता और उस सारी टाँग के दर्दवाले को उस वैद्य को भी असत्य नहीं समझना चाहिए, जो इलाज के लिए उसकी टाँग के सिर्फ ऊपर के हिस्से पर दवा लगाता है या और किसी तरह का प्रयोग करता है।

चक्रों के केन्द्र हमारी नगी आँख से नहीं ढूँढे जा सकते। उनको तो हमारी विचार की आँख ही देख सकती है और स्वाध्याय नंगी आँख का विषय नहीं है। अपने-आपको समझने के लिए आँख-कान सबको बंद करना पडता है। बहुत-से आदमी तो आँख बन्द करके ही सोचते, विचारते और बोलते हैं।

विज्ञान की हर शाखा मे किसी-न-किसी ऐसी चीज को मानकर चलना होता है, जो उस शाखा के विज्ञानी की देखी हुई नहीं होती यानी अपनी किसी भी इद्रिय से उसने उसको नहीं जाना होता। पर उसे मानना यों पडता है कि

स्वभाव और गति केन्द्र की प्रकृति

प्रकृति को इस तरह की तेज चालों की जरूरत थी। अगर ऐसा न होता, तो मनुष्य का जीवन खतरे में पड़ गया होता। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जब हम केंद्रों की चाल की तेजी की बात कह रहे हैं, तो हम यही कहना चाहते हैं कि स्वभाव और गति के चक्रों को विचार-केंद्र की घडी से काम करने के लिए बहुत वक्त मिल जाता है, जब कि उसी घडी से विचार-केंद्र को बहुत कम वक्त मिलता है। इसको इस तरह और साफ किया जा सकता है कि जरूरत पडने पर हमारा स्वभाव और गति केंद्र विचार का काम अपने हाथ में लेकर मनुष्य-सगठन को आफत में पड़ने से शीघ्र बचा लेता है। मामूली हालत में, आग लग जाने की बात सुनकर हमारा सगठन इतनी जल्दी फैसला नहीं करता, जितनी जल्दी उस वक्त जब सचमुच हमारे घर में आग लग गयी हो। किसी खराब चीज के पेट में पहुँचते ही सारा सगठन एकदम विद्रोह कर बैठता है और फिर झट उल्टी आ जाती है। यही हाल उस वक्त होता है, जब आदमी की भूल से कोई छोटे-से-छोटा तिनका स्वाँस की नली में चला जाता है। अगर प्रकृति में ऐसा इतजाम न होता, तो मानव-जीवन मुश्किल हो गया होता।

ये स्वभाव और गति केंद्र पशु-पक्षियों में इतने ही उन्नत हैं, जितने आदमी में। और शायद इनकी चाल की उन्नति का कारण यही हो कि यह सबसे पुराने केंद्र हैं। पशु-पक्षियों में भावकेंद्र होता तो है, पर मनुष्य जितना उन्नत नहीं होता! हाँ, विचार करने की शक्ति उनमें बिलकुल नहीं होती।

केन्द्रों की गति तेज क्यों होती है?

नशे की हालत में केंद्रों की गति कुछ तेजी पर आ जाती है। इसीको गलती से आदमी ने यह समझ लिया है कि नशा करने से बुद्धि बढ़ती है। नशे की हालत मे कभी-कभी आदमी को ऐसा मालूम होता है कि वह नयी-नयी वेदनाओं का अनुभव कर रहा है और उसे शाति, आनंद, संतोष, हल्कापन हासिल हो रहा है। पर बात ऐसी नहीं होती। क्योंकि दूसरे ही क्षण उसकी यह सब बाते क्रोध, चिड़चिड़ेपन और दुःख में बदल जाती हैं। नशे की हालत

में न हमेशा एक-से भाव आते हैं और न एक-सी हालत रहती है। जो कुछ होता है; वह यह होता है कि हमारी स्मृति की चरखी पर चढा हुआ फिल्म जरा जल्दी घूमने लगता है और उसकी वजह से जल्दी-जल्दी भावों की तबदीली होने लगती है और हमारा बदन उन्हीं भावों के अनुसार रोने, हँसने, प्यार करने, राग-द्वेष करने लग जाता है। हमारे भावों की तेजी सिर्फ नशे की हालत में ही नहीं बढ़ती, भूख और प्यास मे भी उस वक्त बढ़ जाती है, जब भूख-प्यास मिटाने की चीज हमारी आँखो के सामने आती है। किसी चिडियाघर मे शाम के वक्त किसी शेर को उस वक्त देखिये, जब दूर से उस शेर को अपना खाना आता हुआ दिखाई दे रहा है। उस वक्त बिल्कुल ऐसा मालूम होगा मानो शेर, शेर नहीं है, आदमी का बनाया हुआ स्प्रिंगदार खिलौना है।

केंद्रों की गति का चमत्कार

सब बातो को छोडकर अगर अपने स्वप्नो की जाँच की जाय, तो स्वभाव और गति-केंद्र की चाल का अंदाजा हो सकता है। दसियों वर्ष के काम कुछ मिनटों मे हो जाते हैं। उसी तेजी के आधार पर किसी आदमी ने किसी एक कहानी के जरिये एक रात के कुछ घंटों की नींद में बारह वर्ष की पूरी पढ़ाई खतम करके दिखा दी थी।

यों तो चाल का अंतर हममें हर वक्त काम करता रहता है, पर बहुत कम आदमियो की नजर उस ओर जाती है। इन केन्द्रो की चाल के ऊपर इतना कहना जरूरी तो न था, पर इसलिए कह दिया कि स्वाध्यायी को बहुत जल्दी इस चीज का अनुभव होगा और कहीं वह उसके अचरज में पडकर या उसके हिसाब लगाने के झगडे मे पडकर वहीं रुक न जाय। अगर जरा भी आदमी ने अपने-आपको पढ़ना शुरू किया होता, तो यह सब बातें अचरज की न मालूम होतीं। बाहरी मामूली दुनिया को देखकर यह बातें अचरज की भले ही, मालूम हों, पर प्रकृति के मैदान में यह बहुत अचरज की बातें नहीं हैं। आज के विज्ञान का परमाणु चाल के लिहाज से बेहद भेद भरा है, इसलिए वह कम अचरज का नहीं। अगर कोई आदमी अपने खाने की मामूली-सी क्रिया पर एक नजर डाल जाय

कि वह किस तरह चबायी जाती है, निगली जाती है, रस में बदली जाती है, फिर बिलोई जाती है और कितनी क्रियाओं के बाद खून में तबदील होती है, तब वह अचरज मे पड जायगा। और अब तो स्कूल का हर बच्चा जान गया है कि कोई चीज पेट में जाते ही उन परीक्षकों के सामने लायी जाती है, जो उसकी बुराई-भलाई की जाँच करते हैं और बुरी होने पर निकाल बाहर करते हैं और यह सारा काम सेकडों में हो जाता है। यह आदमी के लिए चमत्कार नहीं तो और क्या है, जो अपनी लेबोरेटरी मे इस बात की जाँच करने मे घटों लगा देता है कि यह गाय का घी है या वेजीटेबल तेल? अब अगर हमारा स्वभाव और गति-केन्द्र विचार-केंद्र से हजारों गुना तेज चाल से काम न कर रहा होता, तो ऐसा चमत्कार किस तरह संभव हो सकता है।

केंद्रों की चाल पर इशारा करके हम केंद्रों की उस खासियत को बताना चाहते हैं, जिसकी जानकारी बड़े काम की साबित होगी और वह जानकारी अपने को पहचानने मे बड़ी सहायक होगी।

केंद्रो मे द्वन्द्व

हम ऊपर एक जगह कह आये हैं कि खालिस प्रेम जैसी चीज दुनिया में कहीं नहीं पायी जाती। जो प्रेम हमारे हाथ लगता है, वह राग-द्वेष की खिचड़ी होता है। इसी वास्ते हम किसीको कम रागी और ज्यादा रागी कह देते हैं। खालिस प्रेम को सामने रखकर कम-ज्यादा का सवाल ही नहीं उठता। कम-ज्यादा की बुनियाद उन द्वन्द्वो पर है, जिससे यह संसार भरा पड़ा है। वह द्वंद्व है—सुख-दुख, सच-झूठ, हल्का-भारी, गरम-ठडा, बुरा-भला इत्यादि। इन द्वन्द्वो की वजह से हमारे सब केंद्र बिजली के तार की तरह दो तरह के हो गये हैं, यानी गरम-नरम। यह द्वन्द्व स्वभाव और गति-केंद्र में हर आदमी को साफ-साफ दिखाई देता है। विचार-केंद्र का द्वन्द्व भी हर आदमी आसानी से समझ सकता है। भाव-केंद्र का द्वन्द्व थोड़ा ध्यान देने से समझ में आ सकता है।

विचार-केंद्र का द्वंद्व

विचार-केंद्र का नरम-गरम द्वन्द्व 'ना' और 'हाँ' नाम से पुकारा जाता है। जिस तरह बिजली के लिए नरम-गरम, दोनो एक समान जरूरी हैं, वैसे ही

विचार-केंद्र के लिए 'हाँ' और 'ना', दोनों जरूरी हैं और फायदे के है। इस 'हाँ' और 'ना' के वादे से ही हमारी बुद्धि हर वक्त हर विचार को तौलती रहती है। दो विचारों में कौन हलका है और कौन भारी है, यह फैसला होने पर ही आदमी कुछ काम करता है। अगर दो विचार एक बराबर भारी निकलें, तो ठीक फैसला नहीं हो पाता और इसीका नाम 'दुविधा' है। यह दुविधा दुःखदायी होती है। 'हाँ' और 'ना' दुखदायी नहीं होते। 'हाँ' और 'ना' तो हमारी बुद्धि की बनावट के हिस्से हैं और ऐसे ही बेगुनाह हैं, जैसे तराजू की डंडी के दो सिरे। अब रही दुविधा, उसीको मिटाने के लिए धर्मों ने जन्म लिया और उसीको मिटाने के लिए स्वाध्याय है। दुविधा से बचने का गांधीजी ने एक रास्ता निकाला था और हम नहीं कह सकते कि वह सबको पसन्द आया या नहीं। गांधीजी का कहना था कि दो भले विचार अगर बुद्धि की तराजू पर बराबर के उतरें, तो लॉटरी डालकर एक के लिए 'हाँ' का फैसला कर लेना चाहिए।

स्वाध्यायी जिस समय स्वाध्याय में लगेगा, तब विचार-केन्द्र का यह द्वंद्व उसके सामने होगा और अच्छी तरह उसकी समझ में आ जायगा कि यह द्वंद्व उसके मस्तक के स्वास्थ्य के लिए बेहद जरूरी है। और यह कि 'हाँ' और 'ना' में से किसी एक की थोड़ी-सी बढ़वारी भी सारे संगठन में गड़बड़ी खड़ी कर देती है। अगर वह ज्यादा बढ़ जाय, तो आदमी और समाज, दोनों के लिए खतरा खड़ा करा देती है।

स्वभाव-केन्द्र का द्वंद्व

विचार-केंद्र की तरह स्वभाव-केंद्र में भी यही द्वंद्व काम कर रहा है। सुख-दुःख दोनों ही आदमी के संगठन के लिए जरूरी हैं। प्रायः आदमी यह समझता है कि सुख कम हो जाने से देह दुःखी होती है या दुःख बढ़ जाने से देह को चैन नहीं मिलता। यह बात है तो ठीक, पर जिस तरह वह कह रहा है, उससे यह पता नहीं लगता कि वह सुख-दुःख के द्वंद्व को ठीक-ठीक समझ पाया है। हम नहीं कह सकते कि उसको यह पता है कि जब सुख घटता है, तब उतना ही दुःख भी घट जाता है। जब सुख बढ़ता है, तब उतना ही दुःख बढ़ जाता है। इसलिए सुख-दुःख का घटना-बढ़ना बेकार है। यों सुख-दुःख आदमी के संगठन के लिए

बेहद जरूरी है। स्वभाव और गति-केंद्र में जो सुख-दुःख है, वह तो इसी तरह का बाट का काम करते हैं, जिस तरह विचार-केंद्र के 'हाँ' और 'ना'। सर्दी के दिनों में आदमी जब धूप में बैठता है, तो स्वभाव-केंद्र तराजू में तौलकर झट बता देता है कि धूप में बैठना सुख देगा और जब धूप तेज हो जाती है, तब वही स्वभाव फिर बता देता है कि अब बैठना दुःख देगा। अब अगर स्वभाव-केंद्र दुःख मानना छोड बैठे, तो आदमी आग में घुस जाय और जल मरे और लकवा मारे हुए अंग का यही हाल तो होता है। वह दुःख मानना भूल गया होता है, इसलिए उस लकवा मारे अंग पर आग रखी जाय, तो स्वभाव उस अंग को बचने के लिए नहीं कहेगा। यहाँ इतना और जान लेना चाहिए कि वही अंग जो दुःख छोड बैठा है, वह साथ में सुख भी खो बैठा है। लकवा मारे हुए अंग को न गर्मी में हवा की जरूरत होती है और न लू से कोई डर। अब यह बात साफ समझ में आ गयी होगी कि सुख-दुःख नामी द्वंद्व क्या चीज है, वह कितना जरूरी है और प्रकृति की यह कैसी अनोखी देन है? इसी तरह के सारे द्वंद्व ऐसे हैं, जो किसी तरह उन केंद्रों से अलग नहीं किये जा सकते और अगर अलग कर दिये जायँ, तो केंद्र तुरत बेकार हो जायगा या थोडी देर में सारा संगठन नष्ट हो जायगा।

हमारी जिह्वा की, नाक की, देह की अनुकूल वेदनाएँ यह बताती हैं कि जीते रहने के लिए क्या-क्या चीज जरूरी है। ठंढी हवा से अगर हमें सुख न मिलता होता, तो हम उससे फायदा किस तरह उठा सकते और गरम हवा हमें दुःख न देती होती, तो हम उससे क्यों बचते? और जब हम न सुख मानते न दुःख, तो जीवन रहता किस तरह?

जीवन के ये द्वंद्व हमारे जीवन को ताजा बनाये रखने में बड़े सहायक होते हैं। ये द्वंद्व प्राणीमात्र के सच्चे नेता हैं। इन द्वंद्वों का बिगड जाना बीमारी लानेवाला हो सकता है और मौत भी बुला सकता है। अगर आदमी अपना स्वाद और गंध खो बैठे, तो जहर खा लेगा और मर जायगा।

भाव-केंद्र के द्वंद्व

गति के केंद्र में भी द्वंद्व मौजूद हैं। वहाँ इसी द्वंद्व का नाम है काम करना

और आराम लेना, चलना और ठहर जाना, लेटना और बैठना—उसके यही 'हाँ', 'ना' हैं, यही सुख-दुःख हैं। भाव-केंद्र के द्वन्द्व वैसे तो फौरन समझ में आ जाते हैं और बड़े सीधे-सादे होते हैं। जैसे हँसी सुख देनेवाली है और रोना दुःख देनेवाला है। दया अच्छी है और कठोरता बुरी, राग अच्छा है, द्वेष बुरा। पर भावों के द्वन्द्वों को समझना ज़रा उलझन की चीज है, हम नाटक में करुणा के तमाशे देखकर रोते हैं, आँसू बहाते हैं, कभी-कभी हिचकियाँ बँध जाती हैं; लेकिन आनंद लेते हैं। अब इसको 'हाँ' में डाला जाय या 'ना' में, सुख कहा जाय या दुःख। अगर ध्यान से इस बात पर नजर डाली जाय, तो ऐसा मालूम होगा कि इसमें 'ना' है ही नहीं। यानी दुःख है ही नहीं। और जहाँ कहीं भाव-केंद्र नकार-भाव दिखाता है, वे नकली होते हैं, बनावटी होते हैं। असल बात यह है कि भाव अलग चीज है—भावों की क्रिया अलग चीज है और उस क्रिया का असर तीसरी चीज। भाव, भाव-केंद्र के मातहत; भावों की क्रिया गति केंद्र के मातहत, और उस क्रिया का असर स्वभाव के मातहत। अब रही यह बात कि भाव-केंद्र में द्वन्द्व कहाँ है? हाँ, द्वन्द्व है। हँसना-रोना द्वन्द्व है। भाव का यह फैसला अब हँसना या रोना भाव के हाथ में है। हँसने-रोने से सुख होगा या दुःख, यह भाव का विषय नहीं। यह स्वभाव और गति का विषय है। अब रही भाव के द्वन्द्व की गहराई, जो सचमुच भाव-केंद्र की अपनी है, उस गहराई पर असर करती है कल्पना और ममता। तभी तो नाटक देखनेवाला रावण को जटायु की चोंचों से मार खाते देखकर हँसता है और सीता को रावण के कंधे पर हरण होते देखकर रोता है, क्योंकि नाटक देखनेवाले ने सीता से अनुकूल ममता और रावण से प्रतिकूल ममता पैदा कर रखी होती है। ठीक इसी तरह कवि या और कोई आदमी कल्पना के बल पर भाव-केंद्र में द्वन्द्व जगा लेता है। रही उन भावों के कारण हँसने-रोने की क्रिया। यह बिलकुल नसों, पुट्ठों और ग्रंथियों की गति का काम है और अनुकूल प्रतिकूल वेदना स्वभाव-केंद्र का विषय है। असल में भाव दूसरे आदमी के सामने नहीं आते। उसके सामने होती है क्रिया। यही वजह है कि भावों का द्वन्द्व ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। उसकी ठीक-ठीक जानकारी आदमी खुद ही कर सकता है। जब

वह स्वाध्याय करने लगेगा, तब तो और भी बड़े-बड़े भेद उसके लिए अपने-आप खुल जायेंगे।

शुद्ध प्रेम यानी सब केंद्रों की एकता

अब रही शुद्ध प्रेम की बात, यानी वह प्रेम, जो राग-द्वेषरहित है और भाव के तराजू की डंडी को सीधी और स्थिर कर देता है। वह तो हर आदमी को होता नहीं और उसका ठीक-ठीक रूप उस वक्त तक नहीं पहचाना जा सकता, जब तक आदमी अपने को न पहचान ले क्योंकि प्रेम तो परमात्मा का एक नाम है। सत्य, प्रेम, परमात्मा, तीनों एक अर्थवाले शब्द हैं। हाँ, आत्मा-चेतना-वाले आदमियों में जो राग प्रेम नाम से पुकारा जाता है, वह भी बहुत ऊँचे दर्जे की चीज होती है। उसे बस ऐसे ही समझना चाहिए, जैसे बहुत बारीक कागज, जिसके एक तरफ लिखने से दोनों तरफ पढ़ा जा सके। असल में बेहद घिसा हुआ राग एक तरह से प्रेम ही होता है। वह गुस्सा भी क्या, जो आया और चला गया। उसे गुस्सा न कहकर क्षमा ही नाम देना ठीक होगा। बस, प्रेम आत्म-चेतना में ही रह सकता है और उस वक्त आदमी के अंदर सब केंद्रों की एकता आ चुकी होती है, अनेक अहम मिलकर एक अहम बन चुका होता है, पुरुष द्वारा इच्छा-शक्ति समेत जीव को आत्मसमर्पण कर दिया होता है।

भावों में विरोधीपन

प्रेम और सत्य-श्रद्धान ऐसे भाव हैं, जो द्वंद्वरहित हैं, पर यह किसीको नसीब नहीं। इनके पास पहुँचना आदमी के लिए बहुत काफी है। रहे हमारे दूसरे भाव, जो आनंद, सहानुभूति, राग, आत्मविश्वास के रूप में किसी वक्त भी दूसरा रूप ले सकते हैं। आनंद चिंता में बदल सकता है, दया निष्ठुरता बन सकती है, राग द्वेष का रूप ले सकता है, आत्मविश्वास डर बन सकता है और इसी तरह से और अच्छे भाव बुरे बन सकते हैं। दुनियादारी के प्रेम को डाह में बदलते या वियोग से डरते किसने नहीं देखा! दुनियादारी का प्रेम भड़ककर क्रोध का रूप ले लेता है, घृणा बन जाता है। वही हाल आशा का होता है। वह निराशा बनकर कल्पना बन जाती है और असंभव की चाह

करने लगती है। मिथ्या श्रद्धान या अंध-श्रद्धा पक्षपात बन बैठती है और ऊटपटांग बातों को मान बैठती है।

विचार-केंद्र में ज्ञान, विचार बड़ी अच्छी चीज है, पर 'ज्ञान-मद' की बात किसने नहीं सुनी? 'विद्या विवाद के लिए होती है' यह कौन नहीं जानता? सौंदर्य-प्रेम बड़ी अच्छी चीज है, पर वह तो बड़ी जल्दी अभिमान का रूप ले लेता है, स्वार्थों मे बदल जाता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि शुद्ध भाव जैसी कोई चीज नहीं है और अगर है, तो वह इस जगत् में नहीं है, केवल कल्पना के जगत् में मिल सकती है।

भावों में द्वंद्व नहीं, जो द्वंद्व है वह कहने के लिए है, क्योंकि जितने नकार भाव हैं, उनकी जड या तो कल्पना मे है या ममता मे। यह बात ठीक है कि भावों की वजह से जिस तरह देह दुःख-सुख अनुभव करता है, वैसे ही मस्तक भी दुःख-सुख मानता है। पर उस दुःख-सुख का सम्बन्ध स्वभाव, गति और विचार-केन्द्रों से है। इस तरह के दुःख-सुख को भाव के सुख-दुःख नहीं कहा जा सकता। हाँ, ममता और कल्पना से पैदा हुए भाव-केंद्र के खाते ही लिखे जायेंगे।

हमारे जीवन में जितना भावों का नाटक खेला जाता है, उतना किसी दूसरे का नहीं। यह कहना कुछ बढ़कर कहना नहीं होगा कि आदमी का सारा जीवन भावों की बुनियाद पर टिका हुआ है। एक आदमी सारी उमर संयम का जीवन बिताकर ममता के हाथ मे खेले हुए एक नकार भाव का धक्का पाकर असंयमी बन सकता है। इसी तरह बरसों का असंयमी पलक मारते संयमी हो सकता है। इसमे कोई शक नहीं कि नकार भाव हमारे जीवन को न सुधरने देते हैं और न उभरने देते हैं और न हमे सत्य की राह चलने देते हैं। दो शब्दों मे इनके बारे में यह कहा जा सकता है कि इन नकार भावों ने यह साबित कर दिया है कि आदमी मशीन है और भावों के हाथ का खिलौना है।

नकार भाव और अपनी पहचान

भावों पर काबू पाना बेहद मुश्किल है। नकार भाव किसी तरह काबू में नहीं आ सकते। उनको काबू मे करने की कोशिश स्वाध्यायी को नहीं करनी

चाहिए। यहाँ यह सवाल हो सकता है कि क्या उनको काबू में लाये बगैर अपनी पहचान हो सकती है यानी अपने अन्दर के सार को पहचाना जा सकता है? इस सवाल का जवाब हम यहाँ नहीं देंगे। आगे चलकर खुद यह बात साफ हो जायगी।

जो आदमी यह समझते है कि वह नकार भावों को काबू में कर सकते हैं, हमारी राय में वे धोखे मे है। नकार भाव ऐसे भाव नहीं है कि वे इच्छा-शक्ति के काबू मे आ सकें। जो यह दावा करते हैं कि नकार भाव इनके काबू में आ गये, वह कहाँ धोखा खाते हैं, इस बात को साफ करने की जरूरत है और यह बगैर उदाहरण के नहीं हो सकता।

आदमी के लिए यह असम्भव है कि वह किसी नाटक मे सीता-हरण देखकर आँखों में आँसू न ले आये। अब अगर कोई आदमी यह कहे कि नहीं, उसको सीता-हरण के समय आँसू नहीं आये, तो हम उसका यह बयान सच तो मान लेंगे, पर यह मानने के लिए तैयार नहीं कि उस वक्त उसके नकार भाव काबू मे थे, और यह कि उसने जान-बूझकर उन भावों को जाहिर नहीं होने दिया। सीता-हरण के समय जिस आदमी की आँख मे आँसू नहीं आते, उसमे इतने कारण हो सकते हैं:

१. अगर आदमी ऐसा है, जिसको सीताजी के बारे मे कोई जानकारी ही नहीं है, तो उसको आँसू नहीं आयेंगे।

२ अगर आदमी सीता-हरण के समय नाटक को सिर्फ इस गरज से देख रहा है कि जो सीता का नाटक कर रहा है, वह ठीक-ठीक कर रहा है या नहीं, तो उसको आँसू नहीं आयेंगे। और अगर आ भी जायँ, तो उसका सम्बन्ध सीता-हरण से नहीं होगा, उस खूबी से होगा, जिस खूबी से नटी ने नाटक खेला है।

३. अगर वह आदमी ऐसा है, जो रावण को अपना दोस्त समझता है, तो उसकी आँख में आँसू नहीं आयेंगे और अगर आयेंगे, तो वह उस आनन्द के आँसू होंगे जो आनन्द उसको उस सफलता में मिला है, जो उसके दोस्त रावण को हुई है।

पढ़नेवाले इस तरह के उदाहरण खुद तैयार कर सकते हैं। पर इन उदाहरणों में से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि नकार भाव काबू में नहीं लाये जा सकते। असल में नकार भावों की जड़ में ममता रहती है। अगर किसी वजह से वह ममता दूर की जा सके, तो जितनी देर के लिए वह दूर रहेगी, नकार भावों पर काबू रहेगा। इसके यह माने कहाँ हुए कि आदमी ने नकार भावों पर काबू पा लिया। नकार भावों में एक और बात यह है कि वे आदमी को बुरे नहीं लगते, उनकी वह पूजा करता है, फिर छोड़े तो कैसे छोड़े? स्वाध्यायी के रास्ते में यह बड़ी जबरदस्त रुकावट आयेगी। पर इस पहाड़ को भी लाँघना है। स्वाध्यायी को सोचना यही है कि ये नकार भाव न तो सुन्दर हैं और न इनमें कोई ऐसा बलवान् गुण है, जो तारीफ के काबिल हो और न इनमें कोई भलाई है। फिर भी इनसे इतना मोह क्यों?

आदमी को अपने ही नकार भाव प्यारे नहीं लगते, दूसरों के इससे ज्यादा प्यारे मालूम होते हैं। इस वजह से यह समाज की पूजा की चीज बन गये हैं और सारा मानव-समाज इन नकार भावों का पुजारी बन गया है। क्या व्यक्ति और क्या समाज, कोई यह सोचता ही नहीं कि ये नकार भाव निर्बलता की खान हैं, पागलपन का बीज है और अन्याय-नदी का निकास है। इनमें अगर कोई भलाई है, तो वह यही है कि यह पैदाइशी नहीं है, स्वच्छ मानव का स्वभाव भी नहीं है। खालिस कल्पना और ममता की औलाद है। इसलिए अगर यह किसी तरह से नष्ट हो जायँ, तो आदमी रत्तीभर टोटे में नहीं रहेगा। स्वाध्यायी बस इस बात को गाँठ बाँध ले, समय पर काम आयगी।

अगर किसी तरह भी नकार भाव आदमी के लिए जरूरी या काम के होते या कुछ भी भलाई के होते, तो सचमुच उनकी न आत्मोन्नति हो सकती और न आदमी अपने को पहचान सकता और न स्वाध्याय की सोचता। भाव-केन्द्र में बैठे-बैठे यह नकार भाव कुछ नहीं करते, सिर्फ अँगड़ाई लेते रहते हैं और चक्र पर आकर इस तरह का नाटक खेलने लगते हैं, मानो यही भाव-केन्द्र की जान हैं। यह गैरजरूरी भाव सिर्फ इस वजह से जरूरी बन गये हैं कि ममता और कल्पना के फंदे में फँसकर आदमी के अन्दर बैठे एक अहं ने कई अहं का

रूप ले लिया है। इसलिए स्वाध्यायी यह ध्यान रखे कि जैसे ही उसके अहं मिल-कर फिर एक हो जायेंगे, वैसे ही कल्पना और ममता कमजोर होंगी और नकार भाव अपने-आप भागते दिखाई देंगे।

नकार भावों के धोखे में

बलिदान की बात सब धर्मों ने अपनायी है और बलिदान पर सब संतों ने जोर दिया है और बलिदान में जिस चीज की बलि देने की बात कही गयी है, वहाँ यही कहा गया है कि अपनी सबसे प्यारी चीज का बलिदान करो और सबसे प्यारी चीज वही होती है, जो हमसे किसी तरह छोडी न जा सके और वह यही तो नकार भाव है। यही सबसे प्यारी चीज है, जिसे आदमी कभी नहीं छोडता। फिर इनका बलिदान तो कर ही नहीं सकता। इन नकार भावों ने आदमी को धोखे में डालकर उससे अपने बेटी-बेटों का बलिदान करा दिया, अपने पाले हुए पशुओं का बलिदान करा दिया, निष्पाप पक्षियों का बलिदान करा दिया और मेहनत से कमाये धन-धान्य का त्याग करा दिया और वह नकार भाव उस आदमी के परम प्रिय बने, वहीं के वहीं बैठे रहे।

आदमी से अगर यह पूछा जाय कि कौन-सी चीज वह आसानी से बलिदान कर सकता है, तो अजब नहीं कि वह यही जवाब दे कि भाई, तुम जो कुछ कहो, वह मैं बलिदान कर सकता हूँ, पर नहीं कर सकता तो एक नकार भाव। यह नकार भाव हैं तो, पर वह आदमी के इतने अपने हो गये हैं कि इनकी खातिर वह अपनों को ऐसे ही छोड देता है, जैसे आदमी स्त्री के खातिर अपनी उस माँ को, जिसके अंग का नौ-दस महीने हिस्सा रहा है और जिसके दूध से वह साल-सवा साल पला है। स्त्री से ममता की खातिर, जो ममता खुद कल्पना की देन है, आदमी अपनी जान लडा देता है। स्त्री को बचाने के लिए जान देनेवाले क्या सैकडों, हजारों नहीं मिल सकते? इससे भी ज्यादा मिल सकते हैं। बडे अचरज की बात तो यह है कि इसी कल्पना की बेटी ममता के आधार पर बनाये रिश्ते के लिए जान दे डालने का समर्थन सारा समाज करता है और इस विचार का आदर पूजा की सीमा लाँघ चुका है। इससे ज्यादा बुरा हाल नकार भावों का है। आदमी नकार भावों को छोड़े, तो कैसे छोड़े! उसके

छोडने से उसे समाज से जो मिलेगा, वह होगा निरादर। अब कौन आदमी है, जो निरादर की खातिर तपस्या मे लगे और बलिदान करे ?

दुनिया में कोई ऐसा सुख नहीं है और दुनिया का कोई ऐसा आनन्द नहीं है, जिसका आदमी बलिदान नहीं कर सकता, पर अगर नहीं कर सकता, तो नकार भावों का।

आखिर इतनी बडी कठिनाई है क्यों ? इसलिए कि आदमी ने गलत या सही, यह आशा बॉंध रखी है कि सुख के बलिदान से कुछ मिलेगा। पर उसने यह भी समझ रखा है कि दु.खों के बलिदान से यानी नकार भावों के बलिदान से कुछ हाथ नहीं आता। इसलिए उसने दुःख झेलने को तपस्या मान रखा है, करुण रस में भींगकर ऑंसू बहाने में अपना कल्याण समझ रखा है। जब भी कोई आदमी अपने इष्टदेव के आगे स्तुति बोलते हुए गदगद् होकर ऑंसू बहाने लगता है, तब सारे देखनेवाले उसकी तारीफ करने लगते हैं और ऑंसू बहानेवाला अन्दर-ही-अन्दर आनंद से फूलकर कुप्पा बन जाता है। अब बताइये, आदमी किस तरह इस आनंद को खो बैठे, जो गहराई से देखने पर कितना ही दु.ख की खान क्यो न हो ? स्वाध्यायी ने अब समझ लिया होगा कि स्वाध्याय की राह में यह कितना ऊँचा हिमालय है और कल्पना तथा ममता की बुनियाद पर खडा है। वह हिमालय देखनेभर का हिमालय है, फूँक मारने से इसका समतोल बिगड सकता है और यह चारों खाने चित्त गिर सकता है। इस हिमालय को गिराना बहुत आसान और बहुत मुश्किल है।

कल्पना और ममता की पकड़

स्वाध्यायी ने अब समझ लिया होगा कि कल्पना और ममता कितनी बुरी चीज है। पर सारी दुनिया इनको भला समझती है। मॉं की ममता और कवि की कल्पना, दोनो ही समाज की पूजा की चीज बनी हुई हैं और इसी पूजा की वजह से आदमी ने दुःखों के बारे मे और नकार भावों के विषय में अनोखा ही ख्याल बना रखा है। वह यहॉं तक सोच बैठा है कि दुःख ईश्वर के भेजे हुए होते हैं और वह इसलिए होते हैं कि उन दुःखों की आग में पडकर वह सारे पाप खो दे और ऐसे ही चमकने लगें, जिस तरह सोना आग में तपकर और

मिलावट को खोलकर चमकने लगता है और कुंदन कहलाने लगता है। अब बताइये, वह दुःखों को कैसे छोड़े और क्या नकार भावों से छुट्टी पाने की सोचे? छोड़ने की न सोच वह अपनाने की सोचता रहा है, सोचता है और सोचता रहेगा।

दुःखों के न छोड़ने की एक और वजह है। वह मौत को दुःख समझता है। पर यह तो मानी हुई बात है कि मौत से कोई नहीं बच सकता। इसलिए जब मौत नहीं छूट सकती, तो और दुःख भी नहीं छूट सकते। इसलिए वह क्यों छोड़ने की सोचे? मौत की तरह उसने यह भी समझ रखा है कि संसार से अन्याय कभी दूर नहीं हो सकता और अन्याय को नष्ट करने की योग्यता उसमें है, इसलिए उसे जीना चाहिए और अन्याय को दूर करना चाहिए और अन्याय के दूर करने की बात उन नकार भावों के बिना नहीं बन सकती, जिनके छोड़ने की बात अभी कही गयी है। आदमी के पास यह सोचने के लिए समय ही नहीं है कि उसने क्या-क्या चीज कल्पना से गढ़ रखी है और उनकी गढ़ी हुई चीजों से ममता की मदद से रिश्ते कायम कर रखे हैं। स्वाध्याय इसी विचार के लिए समय पाने के लिए है। स्वाध्यायी को अपनी मेहनत से जैसे ही यह मालूम होगा कि दुनिया का बहुत-सा पसारा कल्पना और ममता का है और शुद्ध मानव के लिए वह बिलकुल गैरजरूरी और निकम्मा है, तो उसे छोड़ने में कोई दिक्कत न होगी और आगे की राह इस रुकावट के हट जाने से बहुत दूर तक एकदम साफ हो जायगी।

यहाँ यह बात जरूर ध्यान में रहे कि दुनिया में कुछ ऐसे आदमी मिलेंगे, जो सिर से पैर तक चौबीसों घंटे नकार भाव में डूबे रहते हैं। दुःख ही उनका जीवन बन गया है। वे खाने के लिए अन्न खाते हैं, पीने के लिए पानी पीते हैं, पर वास्तव में वे दुःख ही खाते और दुःख ही पीते हैं। अगर ऐसे आदमियों से उनका दुःख और उनके नकार भाव छीन लिये जायँ, तो वे तुरंत मर जायँगे। यह किसे नहीं मालूम कि बहुत-से बूढ़े माँ-बाप जब अपने बेटे की याद में दुःख से तड़प रहे हैं, तो जैसे ही बेटा आकर उनकी तड़पन छीनता है, वैसे ही वे प्राण छोड़ देते हैं और इस मुहावरे से कौन नावाकिफ है कि 'इसके प्राण बेटे में अटके हुए हैं।'

अगर ससार से दुःख उठ जाय और नकार भाव खतम हो जायँ, तो आप जानते हैं क्या होगा ? न गाना रहेगा न बजाना, न नाचना रहेगा न कूदना, न कथाएँ रहेंगी न कहानी। अब बताइये, यह कैसे मान लिया जाय कि आदमी दु:ख से बचना चाहता है। वह आदमी, जो लाखो एकड में दुख की खेती कर रहा है, क्या वह योंही कर रहा है ? क्या वह उस खेती में आसानी से आग लगाने को तैयार हो जायगा ? हरगिज नहीं होगा।

ऊपर की बात कहकर हम स्वाध्यायी को निराश नहीं करना चाहते। इसी किताब में पहले हम कई बार कह आये हैं कि आत्मा को पहचानकर या आत्म-चेतना में रहने से ससार का कोई काम रुकेगा नहीं। होगा सिर्फ इतना ही कि अब हम संसार में ससारी बनकर रह रहे होंगे। आत्मज्ञान के बाद यही ससार हमारे लिए नाटक का मच होगा और हम उसके नहीं होंगे। यह बात कहकर हम कोई ऐसी बात नहीं कह रहे, जिसे हमारे पाठक नहीं जानते और नहीं चाहते।

यह कैसी अनोखी बात है कि हम जो चाहते हैं और जिसे जी से चाहते हैं, उस काम में भी लगने को तैयार नहीं। इसका भी वही एक कारण है, कल्पना और ममता।

नकार भाव हमसे तब तक न छूटेंगे, जब तक कि हम उन्हीं तीन उसूलों को लेकर स्वाध्याय में न लगें, जिनका जिक्र किताब में पहले आ चुका है। मतलब यह कि हम स्वाध्याय अपने जानने के लिए करें, कुछ के साथ मिलकर करें और सबके लिए करें। अपने लिए करने से अपनी जानकारी बढेगी, आत्मतत्त्व पर श्रद्धा न होगी। मिलकर काम करने से जानकारी की जानकारी होगी यानी आत्म-गुणों के उपयोग का ज्ञान होगा और उसी ज्ञान को समाज के लिए उपयोग में लाने से हम पूरी तरह से आत्म-चेतना में रहना सीख जायँगे और यही हमारा चरित्र होगा। जब स्वाध्यायी इन तीनों बातों को सामने रखकर स्वाध्याय में लगेगा, तो असभव सभव हो जायगा।

नकार भावों का जीवन से सम्बन्ध

यहाँ यह शंका पैदा हो सकती है कि जब यह कहा जाता है कि नकार भाव नकली हैं, अप्राकृतिक है और बेकार हैं, तब यह आ कहाँ से गये ? इस शका

का कोई समाधान नहीं हो सकता। इस शंका का समाधान तब ही होगा, जब स्वाध्यायी आत्म-चेतना मे पूरी तरह रहने लगेगा। असल मे नकार भावों के विकास को ढूँढ़ना तो आदमी के विकास को ढूँढ़ना है और आदमी के विकास के सम्बन्ध मे कल्पना तो की जा सकती है, पर वह किसी काम की चीज न होगी। और वैसी कल्पना अवैज्ञानिक भी होगी। कल्पना से जो चीज तैयार की जाती है, वह हवाई होती है, धोखे की होती है, टिकाऊ नहीं होती और जो चीज विज्ञानी या योगी ऐसी मान लेता है, जो उसकी देखी-जानी नहीं होती, वह कल्पना की देन नहीं होती। वह होती है उन क्रियाओं की देन, जिन क्रियाओं के लिए आगे कोई कारण नहीं मिल रहा होता, जिस तरह वैज्ञानिकों ने आज ईथर को मान रखा है। ईथर कल्पना नहीं है। वह बिजली, प्रकाश, ताप, इन तीनों के चलने की भूमि है। इसलिए ऐसी चीज को सोच बैठना, जिसकी अभी कोई जरूरत नहीं, खतरे से खाली नहीं होगा। हमें अभी यह पता नहीं कि आदमी की जड़ कहाँ है। इसलिए हमें यह जानने की कोशिश नहीं करनी चाहिए कि नकार भावों की जड कहाँ है? अभी हमारा काम इतने से चल सकता है कि उनका हमारे जीवन से क्या सम्बन्ध है? और वह सम्बन्ध बहुत दर्जे तक साफ हो गया और वह यह कि नकार भाव आदमी के जीवन के लिए इतने ही जरूरी और गैरजरूरी हैं, जितनी रेल या हवाई जहाज के चलने मे रेल की धड़-धड़ और हवाई जहाज की फड-फड़। यह धड-धड़, फड़-फड रेल और हवाई जहाज के लिए बेकार की बला है, पर दोनों का उनसे पीछा भी तो नहीं छूटता। रेल और हवाई जहाज के बनाने-वाले धड़-धड़, फड-फड उन्हें अपने-आप दे देते हैं। उन्हें यह पता भी नहीं होता कि वह ऐसी कोई चीज दे रहे हैं। यही हाल आदमी के बच्चो का होता है। उनके माँ-बाप पैदा होने के दिन से ही जाने-अनजाने उन्हें नकार भाव की तालीम देते रहते हैं। वही नकार भाव बच्चों के बड़े होने पर बड़े और बूढ़े होने पर और बड़े होते रहते हैं।

अगर हम कल्पना की मदद से ऐसा कर सके कि पैदा होते ही किसी बच्चे को ऐसी जगह छोड दें, जहाँ उसे नकार भावों से या तो बिलकुल काम न पड़े

या बहुत ही कम, तो मुमकिन है कि ऊँचे दर्जे की तालीम से उसके वह नकार भाव नष्ट किये जा सकें। पर जिस तरह का जीवन हम बिता रहे हैं, उसमें ऐसी बात व्यवहार में नहीं आ सकती, क्योंकि न अच्छा सुनने से रुक सकता है, न देखने से, न और किसी काम से और फिर नाटक और सिनेमा से तो कैसे भी नहीं। इस दुनिया में कोई जगह ऐसी नहीं, जहाँ नकार भावों की पुष्टि न की जाती हो, क्योंकि उनको कोई बुरा नहीं समझता। फिर सिवा इसके क्या साधन है कि आदमी स्वाध्याय में लगे और खुद ही इस सचाई को जाने कि यह गैर-जरूरी नकार भाव क्यों जीवन में इतनी ऊँची जगह पा गये। यही बात हम किताब के शुरू में ही कह आये हैं कि ग्रन्थों का पढ़ना स्वाध्याय नहीं है। ग्रन्थों का पढ़ना तो नकार भावों से प्रेम करना सीखना है। त्याग का ऊँचे-से-ऊँचा ग्रन्थ नकार भावों की तारीफ करता हुआ मिलेगा, फिर साहित्य और कला के ग्रन्थों का तो कहना ही क्या? आदमी तो इन नकार भावों से थककर नहीं थकता। इसलिए भाव नहीं है, वहाँ भी ढूँढ़ने लगता है।

इन नकार भावों को दूर करने के लिए हममें बल तभी आयगा, जब हम यह अच्छी तरह समझ लें कि वे बहुत बुरी चीज है, हमारे किसी काम के नहीं। अपने को पहचानने की राह में बड़ी रुकावट है, तभी हम अपना पूरा जोर लगा सकेंगे। पर ऐसा न समझने के हम सैकड़ों बहाने निकाल लेते हैं और कभी दया के सागर में उतरने लगते हैं और कभी स्वार्थ-परमार्थ की नदी में बहने लगते हैं और फिर अपने को छोड़ दूसरों के ऐब ढूँढ़ने लग जाते हैं। न दया छूट पाती है, न स्वार्थ। और यह दोनों नकार भावों को दूर करने के लिए और न लगाने के बहाने बन बैठते हैं।

भावों में बदलाव

भाव-केन्द्र के विषय में अब तक जो कुछ कहा गया, उससे ऐसा मालूम होता है, मानो भावों में द्वन्द्व को कोई जगह नहीं, यानी भाव नरम-गरम होते ही नहीं। हर भाव दोनों तरह काम में लाया जा सकता है और लाया जाता है। उसके जितने नकार भाव हैं, वह अपने नहीं हैं, आदमी के ईजाद किये हुए हैं। इसलिए दुनिया में एक भी आदमी ऐसा नहीं मिल सकता, जिसने कभी शुद्ध

भावों का अनुभव किया हो। प्रेम और दया, ये विशुद्ध भाव हैं और ये मानने-भर के हैं। इनका न कोई अनुभव करता है और न कर सकता है। इसलिए हम नहीं कह सकते कि और केन्द्रों की तरह हमारा भाव-केन्द्र भी नरम-गरम नाम के दो भागों में बँटा हुआ है। इतनाभर कहा जा सकता है कि हममें दो तरह के भाव उठते हैं—एक सुख देनेवाले और एक दुःख देनेवाले। और इनमें से कोई भाव अपने-आपमें न सुख देनेवाला है, न दुःख देनेवाला। एक ही भाव मौके-मौके पर दोनों काम कर सकता है। इसका निचोड़ इतना है कि अच्छे से अच्छा जरा-सी भड़क पाकर बुरे-से-बुरे भाव में बदल सकता है।

भावमय जीवन की जो तसवीर हमने खींची है, उस पर अगर गहरी नजर डालें, तो पता चलेगा कि जब तक हम अपने भावों की बड़ाई करते रहेंगे, तब तक न उन्हें काबू में ला सकेंगे और न वह हमसे दूर हो सकेंगे। और उन भावों के रहते न हममें चेतना जागेगी, न एक अंग बन पायगा और न इच्छा-शक्ति काबू में आ पायगी। अब अगर हम यह चाहते हैं कि हम अपने को ठीक-ठीक पहचानें, तब हमारे लिए यही ठीक होगा कि हम इनकी जड़—कल्पना और ममता पर कुठाराघात करें। स्वाध्यायी को कभी-कभी ऐसा भी मालूम होगा कि अगर किसी तरह नकार भावों से पूरी-पूरी छुट्टी भी पा ली जाय, तो भी कुछ दिनों बाद नकार भाव फिर अन्दर आ बैठेंगे और पक्का अड्डा बना लेंगे। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ये भाव हमारे काबू में आ ही नहीं सकते। प्रकृति में सौभाग्य से इससे बचने का इन्तजाम है।

सबसे अच्छी बात हमारे अन्दर यही है कि जीव और पुरुष के मेल से जो चीज हममें पैदा हुई है, वह सदा रहनेवाली नहीं। ये सब विभाव हैं और विभाव इसी तरह से टिकाऊ नहीं होते, जिस तरह पानी की वह गर्मी, जो उसे आग के साथ रहने से मिलती है। पानी की आग में कितनी ही जला देने की शक्ति क्यों न हो, दूसरे क्षण से ही वह ठंढा होना शुरू कर देती है और उस वक्त ही से, जब उसने आग से अपना सम्बन्ध छोड़ दिया होता है। अगर हमारे अन्दर कोई भी नकार भाव सदा रहनेवाला होता, तो हम पागल हो गये होते। पागलपन के माने ही यह है कि उसमें नकार भाव पकड़े गये हैं।

कम्प्लेक्स नकार भाव की अवस्था

इन्हीं नकार भावों की अजानकारी की वजह से आज के मनोविज्ञान ने एक नये शब्द को जगह दे रखी है और वह है 'कम्प्लेक्स'। नकार भावों को समझने के बाद कम्प्लेक्स जैसी चीज अन्दर नहीं रह जायगी। कम्प्लेक्स को पक्का विचार मान बैठना किसी तरह ठीक नहीं। कम्प्लेक्स विभाव है, विभाव का आदि यानी आरभ है, इसलिए उसका अन्त होना चाहिए और जब अन्त होता है, तो उसे कम्प्लेक्स मानना बेकार है। जिसे कम्प्लेक्स नाम से लोग पुकारते हैं, वह नकार भाव की एक अवस्था है। जो आदमी आदमियत से गिरा हुआ नहीं है, उसमें किसी बात के लिए कोई ऐसे विचार नहीं बन सकते, जो कभी बदल ही न पायें और इसलिए उसमें न बदलनेवाला कोई भाव नहीं रह सकता, तब कम्प्लेक्स कैसे रहेंगे? अगर स्वाध्यायियों में से किसीने अपने अन्दर ऐसे कम्प्लेक्स समझ रखे हों, तो उसे यह समझ लेना चाहिए कि वह उसका वहम है। कम्प्लेक्स को छोड़िये। कम्प्लेक्स जैसी कई और बुरी बातें हमारे अन्दर मौजूद हैं। जब स्वाध्याय से वे दूर हो सकती हैं, तो कम्प्लेक्स क्या चीज है?

हमारा हममें क्या है? उसको पहचानने का कब और कैसे अवसर आयेगा? ऐसा अवसर आ सकता है या नहीं कि हम अपने को पहचान लें? इस सवाल के जवाब मे यही कहना ठीक होगा कि पहले हम अपने अन्दर दाखिल होकर यह देखने की कोशिश करें कि वहाँ क्या हो रहा है और किस तरह एक ही चीज बदल-बदलकर नये-नये रूप ले रही है? इस जानकारी के बल पर हमें थोड़ा-बहुत अधिकार उन चीजों की क्रिया पर हो जायगा और वह अधिकार समय पाकर अपने-आप बढ़ता जायगा। यह किसको नहीं मालूम कि जरा-सी मेहनत से हम अपनी गति पर, अपनी-अपनी चाल-ढाल पर काबू पा लेते हैं। किसी खास हालत में बैठने का अभ्यास हम कुछ ही दिनों मे हासिल कर लेते हैं। जो घर में दस मिनट बँधकर नहीं बैठ सकते, रेल मे बैठकर वह मिनटों में अपना स्वभाव बदल देते हैं। बूढ़े-जवान तो रेल में बैठकर एकदम बदल जाते हैं। जरा भी ध्यान से देखने से हमें मालूम हो जायगा कि डाक-गाड़ी

मे बैठकर हमारे मन का और ही हाल होता है और सवारी में बैठकर बिलकुल दूसरा। औरतें विधवा होकर एकदम बदल जाती है और अपने बच्चों को अच्छी तरह सँभाल लेती हैं, जो सधवा रहते कुछ न कर सकती थीं। यह सब उदाहरण इसलिए दिये जा रहे हैं कि कोई यह न समझे कि आदमी अपने अन्दर कोई तबदीली नहीं कर सकता। प्रकृति आये दिन आदमी के अन्दर तरह-तरह के बदलाव करती रहती हैं। अगर उन बदलावों पर आदमी अधिकार जमा ले, तो उसका यह शक दूर हो जाय कि वह अपने अन्दर कोई बदलाव नहीं कर सकता। आजकल देखा जाय, तो हमें अपने विचारों पर बहुत-कुछ अधिकार हासिल है और उस अधिकार की मदद से अपने भीतर के उस पुर्जे को काबू मे लाया जा सकता है, जो इच्छाशक्ति के इशारे पर नाचता है और वह है हमारी बुद्धि।

लगे रहने से क्या नही हो सकता ? इसलिए जिस चेतना की हमने बात कही है, वह जगायी जा सकती है, वह हमारी अपनी चीज है। वह और हम दो नहीं हैं। उसके जगाने से हमारी इस नासमझी में भी फरक पड़ेगा कि हम और चेतना, दोनों अलग-अलग है। यहाँ यह याद रहे कि हम जब चेतना जगाने की बात कहते हैं, तब यह नहीं कहते कि हम अचेतन हैं। हम यही कहते है कि हम कम चेतन हैं और उतनी कम चेतना मे हमारी इच्छा-शक्ति चेतना यानी जीव के काबू में नहीं रह सकती और शायद आसानी से पुरुष के काबू मे भी नहीं आ सकती। जब वह काबू से बाहर है, तो हम इस संसार-सागर में बे-पतवार की नाव हैं। बहेंगे, बह रहे हैं और बहते रहेंगे, पर इससे हमें क्या लाभ ? स्वाध्याय इसीलिए तो है कि हम उस पुर्जे पर काबू पा लें, जिससे अपनी नाव के हम खुद खिवैया बन जायँ। सिर्फ इस बात को मन में बैठाने के लिए हम बार-बार चेतना शब्द से काम लेते है। बस, उससे हमारा यही मतलब होता है कि हम ज्यादा-से-ज्यादा चेतना हासिल कर लें और उसके लिए यह बिलकुल जरूरी है कि जितनी चेतना हममे है, उस पर हम अधिकार करना सीखे और उसीकी मदद से आगे बढ़ें। यह ठीक है कि हमारे विचार हमारे काबू में नहीं हैं; पर यह भी ठीक है कि मिनट आधा मिनट के लिए

वह हमारे काबू में आ सकते हैं, जरा कोशिश करने पर आ भी जाते हैं और यह भी ठीक है, वह चौबीस घटे मे आध-पौन मिनट के लिए कई बार काबू में आ सकते हैं। तो क्या यह कम थोडी बात है ? आग की एक चिनगारी अगर शहर जला सकती है, तो क्या पाव मिनट का अपने विचारो पर राज, देह के देश पर कुछ भी नहीं कर दिखा सकता ? और फिर वह पाव मिनट का राज जब दिन में कई बार मिल सके, तब भी कुछ नहीं कर सकता ?

स्वाध्याय ऐसा विषय नहीं है, जिस पर बहुत सोच-विचार किया जाय। इसके लिए समय निकालने का भी सवाल नहीं है। पाव-आध मिनट तो आदमी को फॉसी के तख्ते पर भी मिल सकता है और यह पाव-आध मिनट उस आदमी के बडे काम का साबित हो सकता है, जिसने वर्षों से चेतना जगाने का अभ्यास कर रखा हो। हमारे पढ़नेवालों में शायद ही कोई ऐसा मिले जिसने ऐसी सच्ची घटना न सुन रखी हो कि अमुक आदमी पलक मारते बदल गया। समय की सूझ उसीको आती है, जो थोडा-बहुत आत्म-चेतना जगाने का अभ्यासी होता है।

अब ज्यादा सोचिये नहीं। स्वाध्याय मे लगिये और एक मिनट लगकर तुरन्त ही लिख डालिये कि जब आप अपने को देखने में लगे, तब आपने क्या देखा ? इसकी चिन्ता न कीजिये कि आप क्या लिखते है। हो सकता है, आपका लिखा हुआ सब भ्रम हो, पर उसे आप ठीक समझते हो। किन्तु हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि दूसरे दिन के बाद नहीं, तो आठ दिन के बाद आपको अपने-आप पहले दिन का लिखा हुआ भ्रम लगने लगेगा। जब भी कोई आदमी सोच-समझकर अपना धर्म बदलता है यानी अपने विचार बदलता है, तो पहले विचार उसे भ्रम मालूम होने लगते है। इस धर्म बदलने में बुराई यही है कि उसने यह सब दूसरे के बहकावे में आकर किया होता है और उस बहक के बल पर, जो पहले विचार भ्रम मालूम होते हैं, वह भी एक भ्रम होता है। पर स्वाध्याय में लगकर, जो पहले विचार भ्रम मालूम होगे, वह भ्रम-जाल को काटनेवाले होते हैं और सत्य की ओर बढ़ानेवाले होते हैं।

स्वाध्याय का आरंभ अपनी याद से

स्वाध्याय में लगते ही पहला काम आपको यह बताया गया है कि आप

अपनी याद कीजिये और देखिये, वह कितना सीधा काम है ! पर स्वाध्याय में लगते ही आपको पहले दिन अपनी डायरी मे यही लिखना पड़ेगा कि अगर दुनिया मे कोई मुश्किल काम है, तो वह है अपने को याद करना। इस बात का यही तो मतलब है कि आपको दिन में किसी वक्त भी अपनी याद नही रहती। अब बताइये, आप अपने-आपको चेतन कैसे कह सकते हैं ? और फिर क्या यह नहीं कहा जा सकता कि जिस वक्त आप स्वाध्याय मे लगे, उस वक्त आप पहले से ज्यादा चेतन थे ? क्योंकि अपने बारे मे कम-से-कम यह तो जान पायें कि आप चेतना में नहीं रहते और ज्ञानियों ने ज्ञान का यही तो काम बता रखा है कि वह यह ज्ञान करा दे कि हम कितने अज्ञानी हैं। फिर स्वाध्याय कितने काम की चीज है कि वह अचेतना का ज्ञान कराती है और चेतना की याद दिलाती है।

स्वाध्याय के पहले ही दिन दूसरा अनुभव आपको यह होगा कि चारों तरफ से तरह-तरह के विचारों ने आपके ऊपर धावा बोल दिया है और सब-के-सब आपको उस रास्ते जाने से रोक रहे है, जिस रास्ते जाने का इरादा आपने कर रखा है। यानी वह सब-के-सब यह चाहते हैं कि आप अपनी याद मे न लगें और आप अपनी चेतनता की जानकारी हासिल न करें।

तीसरा अनुभव आपको यह होगा कि उसी हमले की भीड़ मे कुछ आपके दोस्त-विचार भी हैं या आपकी राय के कुछ विचार भी हैं और वह उन विचारों को ढकेल-ढकेलकर आपको आगे बढ़ाने की कोशिश मे लगे हुए हैं और हो सकता है, आपका यह पाव मिनट या आध मिनट ऐसा मालूम हो, मानो आप पाव घंटे या आध घंटे ऐसे मैदान मे लड़ते रहे हैं, जहाँ आप दो-तीन थे और आपके दुश्मनों की गिनती ही न थी। पर हमारी इस बात का आनंद आपको पूरा-पूरा तभी आयगा, जब आप पाव मिनट के स्वाध्याय का हाल कलम-कागज लेकर लिखने बैठेंगे या अगर आपको लिखने की आदत नहीं है, तो उस पाव मिनट की लड़ाई के बारे में सोचने बैठेंगे।

पहले दिन की लड़ाई का नतीजा आपके मन पर यह छाप छोड़े बिना न रहेगा कि सारी झंझट इस दुनिया में यही है कि आदमी अपनी याद नहीं रखता। और तब यह बात भी आपकी समझ में आ जायगी कि बड़े-बड़े जो यह बात

कह गये हैं कि जब कोई काम करो, तो किसीसे सलाह लेकर करो और अगर कोई सलाह देनेवाला न हो, तो अपनी पगडी उतारकर अपने सामने रख लो और उसीसे सलाह ले लो। इस बात मे सार यही है कि काम करने से पहले जरा अपनी याद कर लिया करो और यही स्वाध्याय का आरम्भ है।

हर रोज हर आदमी को अपनी याद करनी चाहिए, इसलिए मैं अपनी याद करके ही किसी काम में लगा करूँगा।

इस याद के खयाल को लेकर स्वाध्यायी को चाहिए कि वह आदमीरूपी मशीन के विचारों से कल्पना की लड़ाई छेड़ दे और अगर उसने यह लडाई जान-बूझकर और सोच-समझकर छेडी, तो कुछ ही दिनों में उसको उसका कुछ-न-कुछ फल अवश्य मिलेगा। यहाँ यह याद रहे कि हमारे यह वाक्य पढने में जितने आसान है, कान को जितने भले लगते हैं, मन में जितनी उमंग उठाते हैं, करने में उतने ही मुश्किल हैं। पर वह मुश्किल हल हो जायगी, अगर किसी वजह से स्वाध्यायी में अपने को पहचानने की लगन लग गयी होगी।

अपनी याद सचमुच मुश्किल काम है। इस मुश्किल से जल्दी छुटकारा पाने की आशा से कहीं और मुश्किल न बना बैठना। हम ममता के जानी दुश्मन हैं और स्वाध्यायी धोखे में आ सकता है कि आशा उसकी नहीं है। वह आशा से ममत्व जोड़े बगैर नहीं रह सकता और बडी जल्दी यह कहने लगेगा, मेरी मेहनत बेकार गयी। वह यह समझता ही नहीं कि मेरी मेहनत मुझ पर कैसे बेकार जा सकती है? कोई आदमी अगर दूसरे के पाँव के दर्द को दूर करने के लिए, उसके पाँव दबाने की मेहनत करे, तो हो सकता है कि उसके पाँव का दर्द दूर न होने की वजह से उसकी की हुई मेहनत बेकार जाय, तो वह दूसरे के लिए बेकार गयी, खुद उसके लिए बेकार कैसे जा सकती है? जितनी देर उसने उसके पाँव दबाये हैं, उतनी देर उसके हाथो ने कसरत की है और हाथ मजबूत हुए है। यह किसे नहीं मालूम कि दण्ड-बैठक की मेहनत आदमी के अपने लिए होती है। क्या कभी वह बेकार जाती है? स्वाध्यायी की अपने-आप को याद करने की मेहनत कभी बेकार नहीं जा सकती। वह उसे बेकार तभी तो कहेगा, जब अपनी याद न कर सकेगा। उसे

यह कितना भारी फल मिल गया कि उसने यह जान लिया कि अपनी याद करना बहुत मुश्किल है और उसे यह मालूम हुआ कि वह उस मुश्किल को हल करने में लगा। मुश्किल काम में लगना आदमी का स्वभाव है और आदमी-रूपी मशीन में यही एक बड़ी भारी खूबी है कि वह मुश्किल में लगने को दौड़ती है।

यह ताकत हमको हासिल नहीं कि हम जब चाहें चेतना में आ जायें, क्योंकि चेतना की सब अवस्थाओं का हमको ज्ञान नहीं और अगर ज्ञान भी हो, तो अधिकार नहीं। जिन पर हमारा अधिकार नहीं, वह हमारा कहना क्यों मानने लगीं? हाँ, अपने विचारों पर हमें थोड़ा-बहुत अधिकार जरूर हासिल है और मिनट-पौन मिनट को हम किसी एक विचार को अपने हृदय से रोक सकते हैं, फिर क्यों न हम अपनी याद के विचार को रोक लें? इस सुभीते के लिए हम अपने विचारों को कुछ इस तरह का रूप दे सकते हैं—

मैं हूँ, मैं ही हूँ, कोई दूसरा नहीं, मैं 'मैं' हो लूँ, मैं 'मैं' हूँ, तुम मेरे तुम हो, अब कहो, तुम याद क्यों नहीं आते! मैं चाहता हूँ तुम हर वक्त मेरे सामने रहो, सामने नहीं तो याद आ रहे हो, अब तुम मेरे सामने से नहीं जा सकते, 'तुम' 'मैं' एक हैं, तुम जाओगे मैं साथ हूँगा, मैं जाऊँगा तुम साथ होगे, दो नहीं, तब अलग-अलग होता कैसा? इत्यादि।

आदमीरूपी मशीन में इसी राह दाखिल हुआ जा सकता है, यही खिड़की है, और कहीं रास्ता नहीं। इसी खिड़की से रास्ता माँगने पर यह पता लगेगा कि 'हम अपने को नहीं जानते' यह ज्ञान ही हमारी उन्नति की सीढ़ी का पहला डंडा है। इस पर पाँव रखते ही तुम्हें अपने ऊपर भरोसा होने लगेगा कि तुम अपने को याद कर सकते हो। यही आत्म-पठन का पहला पाठ है। इसको समझकर अगला पाठ याद करना होगा।



पाँचवाँ अध्याय

श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र

ज्ञान और चारित्र, दोनों ऐसे शब्द हैं, जिनसे हरएक आदमी खूब परिचित है और इन दोनों शब्दों का हरएक आदमी ने अपने-अपने मन में कोई-न-कोई चित्र खींच रखा है। इन दोनों बातों के बारे मे हम जो कुछ कहने जा रहे हैं, वह शायद वह न रहे, जो लोगों ने अपने मन मे सोच रखा है। यह भी हो सकता है कि हमारी तरह हमारे पढ़नेवालों में से किसी और ने सोच रखा हो। अगर ऐसा है, तो हमें कुछ नहीं कहना और अगर ऐसा नहीं है, तो हमे यह कहना है कि वह हमारे विचारों पर थोड़ा ध्यान दे और हमें आशा है कि ऐसा करने से वह हमारी राय का हो जायगा।

आत्म-पठन के विना ज्ञान नहीं

ज्ञान उससे अलग नहीं, जिस अपने की याद में हम लगे थे। आत्म-स्मृति, आत्म-निरीक्षण और विपरीत-विचार-युद्ध, यह सब एक तरह से आत्म-पठन ही है और आत्म-पठन विना ज्ञान नहीं होता। इसका मतलब यह हुआ कि जब हम स्वाध्याय मे लगे हुए थे और जिसको हम अपने को पहचानना कहकर समझ रहे थे, वह असल में ज्ञान का अध्ययन था यानी ज्ञान अपने को जान रहा था। ज्ञान के सिवा किसी और मे भी यह योग्यता है कि वह अपने को जान सके, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। पर इस बात को समझाने के लिए बड़े-बूढ़ों से यह उदाहरण सुना है कि दीपक अपने आपको खुद देखता है। इस उदाहरण से बात को समझने में कुछ मदद मिलेगी, पर वह इतनी काफी नहीं होगी कि इससे आगे का रास्ता मिल सके।

असल में आदमी है तो एक, पर जरा गौर करने से दो मालूम होते हैं और हम यह बात पहले कहीं कह आये हैं कि सचमुच आदमी दो का बना हुआ है—

एक जीव, दूसरा पुरुष। जीव तो आदमी का सार और सब कुछ है, वही ज्ञान का भंडार है, वही ज्ञानमय है, वह ज्ञान-ही-ज्ञान है और कुछ नहीं। पर ज्ञान-गुण भी तो रहता है, है, उसका अस्तित्व है। वह उसका होना ही उसका चारित्र है। रहा पुरुष, जिसकी वजह से जीव का सब भाव विभाव बन गया है, उसका भी अस्तित्व है। उसीकी वजह से सारी दुनियादारी है। इसलिए इस अध्याय में हम जहाँ-जहाँ चारित्र या अस्तित्व की बात कहेंगे, वहाँ-वहाँ हमारा मतलब पुरुष से होगा, न कि जीव से। अब यह साफ हो गया कि हमारी उन्नति की गाडी इन दो लीकों पर चलती है।

चारित्र का खिंचाव

आदमी की यह दोनों लीकें हर जगह एक दूरी पर नहीं और यही कारण है कि उन्नति की गाडी चलती है और गिर पड़ती है। दोनों लीकों को समान दूरी पर ले आना स्वाध्याय का उद्देश्य है। और जहाँ आदमी ने अपने में समाना सीखा कि दोनों लीक समानान्तर हुईं। चारित्र में खिंच जाने से समाज से पूजा मिल सकती है, पर अन्दर का सुख नहीं मिल सकता। चारित्र में खिंचने का अर्थ ही है, ज्ञान से दूर पड जाना। इसलिए चारित्र के खिंचाव को अज्ञानता का नाम दिया जा सकता है। ज्ञान के खिंचाव का सवाल कभी पैदा नहीं होता। ज्ञान वास्तव में हमेशा विशुद्ध है, पर जिस तरह आदमी को पेड के पत्ते या पेड की शाखें दूर खडे होने पर कुछ-की-कुछ दिखाई देती हैं और पेड खुद एक तसवीर-सा दिखाई देता है, वैसे ही चारित्र में खिंचे हुए आदमी को ज्ञान से दूर पड जाने की वजह से ज्ञान कुछ-का-कुछ दिखाई देता है। यही ज्ञान का विभाव है। अब यह बात स्वाध्यायी की समझ में आ गयी होगी कि ज्ञान विकार रहित है, हमेशा शुद्ध है। उसके बारे में जब कुछ विपरीत कहा जाता है, तब वह चारित्र की अपेक्षा होता है और जिस चारित्र के खिंचाव की बात कही जा रही है, वह सब पुरुष का होता है। ज्ञान का अपना चारित्र या अस्तित्व न कभी बदला, न बदलता है, न बदलेगा।

दुनिया में न कहीं खालिस जीव मिलता है और न खालिस पुरुष। जीव

और पुरुष जिस अनुपात से जन्म लेते हैं, उसकी बात पहले कही जा चुकी है। यह भी कहा जा चुका है कि बालक के बड़े होते-होते यह अनुपात बढ़ता है। दुनियादारी के अनुपात का बढ़ना जरूरी है। पर जब उस अनुपात में जरूरत से ज्यादा अन्तर हो जाता है, तब दुनिया का खेल जिस सुख के साथ चलना चाहिए था, वैसा नहीं चल पाता और यह अनुपात बिगड़ता यों है कि आदमी यह भूल जाता है कि वह जीव ज्यादा है, पुरुष कम। आदमी का यह हाल हो जाता है कि वह अपने को पुरुष ही पुरुष मानता है। इसी पुरुष के लिए अंग्रेजी में शब्द है 'परसनलिटी'। आदमी को यह पता नहीं कि उसका सारा पुरुष परिस्थितियों से बना हुआ है। उसको यह जानने की जरूरत नहीं, क्योंकि उसको दुनियादारी के दुःख सहने की ऐसी लत पड़ गयी है कि वह उस दुःख में सुख अनुभव करने लगा है। जब वह दुःख सहन की सीमा लाँघ जाता है, तब कहीं उसको यह भान होता है कि दुनियादारी बुरी है और अगर यह भान जरा जोर का हुआ, तो घर छोड़कर साधु हो जाता है और उसका यह काम ऐसा ही होता है कि जैसे कोई जलते कढ़ाव से निकलकर आग में कूद पड़े। इस तरह आदमी की जीव की ओर से बेपरवाही और पुरुष से पूरा अपनापा दुनिया के दुःख का कारण है।

जीव और पुरुष का मेल

पुरुष और जीव का मेल कब हुआ, कैसे हुआ, क्यों हुआ, कभी हुआ या नहीं, यानी यह सम्बन्ध अनादि है या नहीं, इस झंझट में पड़ने की कोई जरूरत नहीं। इस वक्त स्वाध्यायी के काम की इतनी ही बात है कि जीव और पुरुष का मेल दुनियादारी के लिए है और ऐसी दुनियादारी के लिए, जो सुख से भरी हुई होगी, जिसमें प्रेम की हवा बह रही होगी और जिस हवा में आपसी मेल-मिलाप के झोंके आ रहे होंगे। हाँ, उस दुनिया में दुःख भी होगा, पर वह दुःख हमको दुखी करने के लिए नहीं, सुख का आनन्द लेने के लिए है। अब जीव और पुरुष का मेल बुरा कहाँ? और इसमें भूल कहाँ है? इसमें अन्याय कैसे? और क्यों इस बात की कोशिश कि जीव को पुरुष से अलग करके निठल्ला और

जड बना दिया जाय ? और क्यों इस बात की कोशिश कि पुरुष को अलग करके उसे फिर पत्थर के ढेले में बदल दिया जाय ? और इस बात की भी क्यों कोशिश कि पुरुष सारे जीव पर छा जाय ? और फिर आदमी एक-दूसरे को फाड़ खाने के लिए दौड पड़े। इस बात की भी कोशिश क्यों कि जीव सारे पुरुष पर इस तरह छा जाय कि आदमी आदमी से बात करना छोड़ दे और उस हालत को पहुँच जाय, जिस हालत में उसने जन्म लिया था ? पुरुष और जीव का मेल बड़े काम का है, बिलकुल दुखदायी नहीं। बस, इसमें बराबर का अनुपात बनाये रखना और यह किसी दूसरी तरह नहीं हो सकता, जब तक कि आदमी अपने को न पहचान ले।

आदमी का अपने-आप को पहचानना, जीव का अपने जीवपने में रहना, आत्म-चेतना का आ जाना, सब एक बात है। इन सबका एक ही नतीजा होता है, जीव और पुरुष का बराबर का अनुपात। जीव कभी अपना अनुपात बढ़ाने की कोशिश नहीं करता और अगर वह कर बैठे, तो दुनिया की कोई ताकत उसे नहीं रोक सकती। फिर नतीजा यह होगा कि दुनिया खतम। गहरे सोचने से इसके सिवा कुछ हाथ नहीं आता कि जीव ने अपनी मर्जी से पुरुष को अपनाया है, यानी सांख्य के पुरुष और प्रकृति किसीके दबाव से नहीं मिले, दबाव डालनेवाला कोई और था भी नहीं और अगर कोई मान लिया जाय, तो दबाव से मिले कभी सुखी नहीं रह सकते और यह भी नहीं हो सकता कि दोनों या दोनों में से कोई एक उसके खिलाफ विद्रोह न कर बैठे, जिसने दबाव डाला है। इसलिए भलाई इसीमें है और स्वाध्याय से आसानी इसीसे होगी कि या तो इतनी गहराई में जाया ही न जाय या यह मान लिया जाय कि पुरुष और प्रकृति पुरुष की मर्जी से मिले या इनका मेल अनादि है।

जीव की यह भलमनसियत कि वह पुरुष के अनुपात को बराबर से कम करना नहीं चाहता, दुनिया की सबसे भली बात है और अगर ऐसा न होता, तो न उन्नति का सवाल उठता, न स्वाध्याय की जरूरत पड़ती। स्वाध्याय तो है ही, इसलिए कि पुरुष को ज्यादती से रोका जाय। आदमी जब-जब अपने में नहीं होता, पुरुष अपनी हद लाँघकर जीव के अनुपात को बिगाड़ देता है

और आदमी अपने में होता ही कब है ? इसीलिए तो पुरुष हर आदमी में जीव का अनुपात बिगाड़े हुए है और इस सुख में रहनेवाली दुनिया को दुःख में डाले हुए है।

स्वाध्यायी ने ज्ञान को समझ लिया होगा। इसलिए ज्ञान की उन्नति की कोशिश में लगाना बेकार है। दीपक की लौ को बढ़ाने से कोई नतीजा नहीं, अगर उसके चारों तरफ काला या और किसी रंग का पर्दा पड़ा हुआ है। उस लौ का तो कोई कुसूर ही नहीं, कुसूर है पर्दों का। पर्दों को न हटाकर दीपक की बत्ती उकसा-उकसाकर बत्ती जला डालने से लाभ ? ज्ञान छोड़ने की चीज नहीं, उसमें उन्नति अपने-आप होगी। यह आदमी का भ्रम है, जो उसके और ज्ञान के बीच में पर्दा बनकर खड़ा हुआ है। यह आदमी की अपनेपन की तरफ से बेपरवाही है, जो ज्ञान को अज्ञान समझे हुए है और अपनी जानकारियों से अजानकार बना हुआ है। क्या उसे नहीं मालूम कि एक बात उसके ज्ञान में है और वह कह रहा है कि हाँ है और यह भी कह रहा है कि याद नहीं आ रही, क्या यह इस बात का सुबूत नहीं है कि अनगिनत जानकारियों का भंडार उसके हाथ में आ जायगा, अगर वह आत्म-पठन के जरिये जीव और पुरुष का अनुपात ठीक कर ले।

परसनलिटी और चमत्कार

पुरुष के हाथ में खेलकर आदमी जब-जब कहता है 'मैं हूँ' तब दुनिया का कुछ नुकसान होनेवाला होता है और अपने को पहचानकर आदमी जब कहता है 'मैं हूँ' तब दुनिया का कुछ भला होने को होता है। पुरुष का 'मैं हूँ' ही आज के मनोविज्ञान की 'परसनलिटी' है और यही परसनलिटी रूस और अमेरिका में ही नहीं, सारी दुनिया में बढ़ रही है। आज की युनिवर्सिटियों का हरएक विद्यार्थी इस परसनलिटी को बढ़ाने की फिकर में रहता है, क्योंकि उसे यही पाठ दिया जाता है।

आत्म-विज्ञान बड़ी अच्छी चीज है, अगर वह अपने को पहचानकर हुआ हो। बड़ी बुरी चीज है, अगर परसनलिटी के जोश में हुआ हो। और, अपने

को पहचाननेवाले हैं कहाँ ? इसलिए आज का आत्माभिमान, आत्म-विश्वास, यहाँ तक कि आत्म-त्याग सब-की-सब बडे खतरे की चीजे हैं। यही सब बडे काम की चीज हो सकते, अगर कोई अपने को पहचान लेता। स्वाध्यायी को यह अन्तर अच्छी तरह ध्यान मे रख लेना चाहिए।

कोई यह न समझे कि हम परसनलिटी खतम करने की बात कह रहे हैं। हम तो उसकी बडी कद्र करते है, उसको बहुत अच्छा मानते हैं, पर उसी परसनलिटी को जो स्वच्छन्द नहीं है, और जिसने इच्छाशक्ति समेत जीव के सामने आत्म-समर्पण कर दिया है।

आज जिस परसनलिटी का गीत गाया जाता है, वह पुरुष की देन है और अपने भाइयों पर रोब जमाने के खयाल से बढायी गयी है। दूसरों को नीचा दिखाने के लिए उसको खूराक दी जाती है। यह ठीक है कि उस परसनलिटी में बडे-बडे चमत्कार कर दिखाने की ताकत है, पर दुनिया की भलाई के लिए नहीं, दुनिया की बुराई के लिए। उस परसनलिटी से आत्माभिमान नहीं बढ़ता, घमड बढता है। इस सम्बन्ध में एक कथा है।

सुनते हैं, गुरु गोरखनाथ अपने गुरुजी के पास पहुँचे। गुरुजी ने बिना उनसे पूछे ताछे गोरखनाथजी को जमकर एक चिमटा लगाया। गोरखनाथजी तिलमिलाकर रह गये और हाथ जोडकर बोले, 'गुरु महाराज, मेरा क़ुसूर ?'

गुरु महाराज बोले, 'क़ुसूर पूछता है ? क़ुसूर करता है, और उसका पता भी नहीं रखता ! बता नाव की उतराई क्या लगती है ?'

'गुरु महाराज, एक पैसा।' गोरखनाथजी बोले।

'तो फिर एक पैसे के खातिर यह नदी के पानी पर पाँव-पाँव चलने का तमाशा क्यों दिखाया गया ?'

गोरखनाथजी पानी-पानी हो गये और सब मामला समझ गये। असल में इन्होंने किसी घाट पर घाटवाले से बिगडकर नदी के पानी के ऊपर पाँव-पाँव चलकर अपना गुस्सा उस पर उतारा था और इस बात का पता गुरुजी को लग गया था।

इस कथा की सचाई पर वहस न करके इससे जो पाठ मिलता है, वह समझ लेना चाहिए।

गुरु गोरखनाथजी को जो चमत्कार दिखाने की ताकत हासिल हुई थी, उसकी जड में थी परसनलिटी यानी पुरुष। इसलिए वह सब चमत्कार दुनिया के लिए दुखदायी थे और अपने को पहचानने के रास्ते में वाधक थे। इसलिए गुरुजी ने उन्हें रोका और उनमें आत्म-चेतना जगायी।

आज के विज्ञान के अनोखे-अनोखे आविष्कार और चमत्कार उन चमत्कारों से कई गुना ज्यादा हैं, जिन चमत्कारों की वात गलत या सही, दुनिया के हर मामूली आदमी के दिमाग में ठूँस दी गयी है। पर जिस तरह आज के चमत्कारों के पीछे परसनलिटी यानी पुरुष काम कर रहा है, वैसे ही उन दिनों भी उन चमत्कारों के पीछे परसनलिटी या पुरुष ही था और जिस तरह आज के चमत्कारों की बुराई हमारी आँखों के सामने है कि वह न दिन में चैन लेने देते हैं, न रात में नींद, वैसे ही उन दिनों के चमत्कारों की बुराई उन लोगों के सामने थी, जिन्होंने उनको देखा या सुना था, जिनकी वजह से मूर्ख भिखमंगो का डर आम जनता में इतना गहरा असर कर गया कि आज तक बीजरूप से वह हम सबमें मौजूद है। उस वीज को धर्म के नाम पर निकलनेवाले पत्र और धर्म की आड में खेले जानेवाले नाटक और सिनेमा पानी दे रहे हैं।

स्वाध्याय के रास्ते में यह एक वड़ा लालच है, इसीसे हमने यह ठीक समझा कि स्वाध्यायी को इससे चेता दिया जाय।

स्वाध्यायी को ज्ञान की तरफ से हटकर चारित्र यानी अस्तित्व को ही ठीक-ठीक समझना होगा। ज्ञान के बारे में इतना समझना काफी है कि यही उसका अज्ञान है कि वह अपने को नहीं पहचानता और यही काफी ज्ञान-उन्नति है कि वह अपने को पहचान ले।

आम आदमियों ने यह मान रखा है कि किसीमें ज्ञान कम है और किसीमें ज्यादा। इसे यों भी कहा जा सकता है कि किसीके भ्रम का परदा पतला है और किसीका मोटा। इसलिए ज्ञान में उन्नति की सम्भावना नहीं। उसकी उन्नति भ्रम का पर्दा हटाने में है।

अस्तित्व को समझना ज्ञान की उन्नति

ज्ञान की उन्नति इस बात में भी है कि आदमी ज्ञान की मदद से चारित्र यानी अस्तित्व को अच्छी तरह समझ ले। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि ज्ञान अपना चारित्र और अस्तित्व नहीं समझता। अब जिस चारित्र या अस्तित्व को हमें समझना है, वह है पुरुष का अस्तित्व। जैसे जीव है वैसे ही पुरुष है। अब अस्तित्व ज्ञान से अलग चीज पड जाता है। हम स्वाध्यायी को शुरू से कहते आ रहे हैं कि वह अपनी याद करे। यहाँ हम यह पराई बात लेकर क्यों खडे हो गये? यह शका है वेठीक, पर अस्तित्व हमारे साथ ऐसा एकमेक बना हुआ है कि अगर उसको अलग से ठीक-ठीक न समझा गया, तो हम अपने को भी ठीक-ठीक न पहचान सकेंगे। हमारे पुराने ऋषियों ने एक बात बड़े मार्के की कही है कि जब वह सत्य या ईश्वर को ढूँढ़ने निकले, तो वह उनके हाथ न लग सका, पर वह ईश्वर को परखने की कसौटी ढूँढ लाये और फिर जब कोई उनके पास आता और कहता कि यह ईश्वर है, तो वह उस कसौटी पर परखकर कह देते, यह नहीं है, और तमाम उमर उन्हें यही कहते रहना पड़ा कि ईश्वर 'यह नहीं है'। ठीक इसी तरह स्वाध्यायी को यह जानना ही चाहिए कि मैं जिस 'अपने' को ढूँढने निकला हूँ, कहीं कोई उस 'अपने' का रूप रखकर मेरे सामने न आ जाय और यह बात होने को है। पुरुष यानी परसनलिटी जीव का रूप रखकर उसके सामने धोखा देने आयेगी और वह जरूर धोखे में आ जायगा, क्योंकि परसनलिटी ने अपनी बगल में इतने चमत्कार दिखाये हैं कि उसको यही मानना पड़ेगा कि वह खुद परसनलिटी है। यही कारण है कि हम उस चीज के अस्तित्व को लेकर खडे हो गये, जो हमारे आपा का नहीं है।

यह चीज या अस्तित्व सब प्राणियों में मौजूद है। पर अगर इसको एक मान लिया जाय, तो बडा धोखा हो जाने का डर है। एक रूसी विद्वान् को एक बार बड़ी अच्छी बात सूझी। उसने इस अस्तित्व यानी होने को अपने लेखों में बड़ी सुन्दरता से निभाया है। उसने कहा, "होने को तो पत्थर है, पौदा है, पशु है, आदमी है और देवता भी है, पर क्या इन सबका होना एक है?" आज जो लोगों के ध्यान में है, वह तो यही है। बड़े-बड़े ग्रन्थकारों ने जीवत्व, वस्तुत्व और

अस्तित्व गुणों का जिक्र किया है और वहाँ अस्तित्व को सब जगह एक ही माना। इसी सिलसिले में सत्ता का भी कथन है। उसके बारे में हमने कहीं यह पढा था कि यह सत्ता महासत्ता के नाम से सारे जगत में छायी हुई है और जो सत्ता प्राणियों में अलग-अलग काम कर रही है, वह है तो वही सत्ता, पर उसका नाम है अवान्तर सत्ता। वहीं यह उदाहरण मिला था कि जिस तरह माला के दाने एक डोरे मे पिरोये रहते हैं और डोरा महासत्ता के रूप मे हर दाने मे मौजूद रहता है, पर डोरे के उस हिस्से को जिस पर एक दाना टिका हुआ है, अवान्तर डोरा ऐसे ही कहा जा सकता है, जैसे अवान्तर सत्ता। इस उदाहरण से इस बात में कोई मदद नही मिलती कि सबका अस्तित्व एक सरीखा है।

किसी हद तक यह ठीक है कि जैसे पत्थर है, वैसे ही आदमी है, फिर भी आदमी का होना कुछ और ही है। पहले किसी अध्याय मे हम आदमी को छह-सात भागो मे बाँट चुके हैं। उसीकी याद करना चाहते है कि आदमी का अस्तित्व कुछ नहीं रह जाता और अगर मानें भी तो क्या ? एक आदमी तो वह है, जो देह को ही सब कुछ समझता है, पशु की तरह जो स्वभाव या इन्स्टिंक्ट लेकर जन्मा है, उसीको मरते दम तक निभाता रहता है। हर तरह से वह यही समझता है कि वह स्वभाव और गति के अलावा कुछ नही है, अब इसे आदमी का अस्तित्व कैसे कहा जाय ? यह बात तो हम पत्थर और पेड-पौंदे मे भी पाते हैं। फिर रूसी ज्ञानी के अस्तित्वों को लेकर हम क्या करें ? नही कह सकते, उस रूसी ज्ञानी ने किस बात को निगाह मे रखकर यह कहा है कि पत्थर का अस्तित्व अलग और आदमी का अस्तित्व अलग है।

दूसरे आदमी को लीजिये, जो अपने आपको सिर्फ भावो का बना समझता है। उसका भी क्या अस्तित्व माना जाय ? उसका यह हाल है कि उसे जरासी बात पर नाराज कर लीजिये, दूसरी बात पर खुश कर लीजिये। एक बात कहकर किसीसे लड़ने को तैयार कर दीजिये, दूसरी बात कहकर उसीसे प्यार करने के लिए तैयार कर दीजिये। अब इसको आदमी का अस्तित्व कैसे कहा जाय ? और कुत्ते के अस्तित्व से इसमें किस तरह अन्तर किया जाय ? कुत्ते को उसका मालिक 'हूँ-हूँ' करके किसीको काटने के लिए दौड़ा देता है और 'आ' कहकर झट कुत्ते

को वापिस बुला लेता है, यह भी कोई अस्तित्व है ? कुत्ते के इस अस्तित्व के आगे खिलौने के उस कुत्ते के अस्तित्व में क्या अन्तर रह जाता है, जो कुत्ता रबड की नली से उछलता-कूदता है।

अब तीसरे आदमी को लीजिये। इनका यह हाल है कि ये अपनी बुद्धि को ही सब कुछ मानते हैं और समझते है कि बुद्धि के सिवा और कुछ नहीं और उस बुद्धि के बारे में उन्होने यह समझ रखा है कि जिस तरह चूना-हलदी मिलकर एक तीसरी चीज, लाल रंग पैदा हो जाता है या आक्सीजन और हाइड्रोजन दो गैसें मिलकर पानी बन जाता है, जो उन दोनो से एकदम भिन्न गुणवाला होता है, वैसे ही पचभूत मिलकर बुद्धितत्त्व बन गया है। उनका यह भी हाल है कि जरा गाली देने पर बिगड पडते हैं, थप्पड़ मारने पर रो देते हैं, बदला न ले सकें, तो महीनो और बरसों याद रखते हैं और वह यह मानने को कभी तैयार नहीं कि बुद्धि के परे कुछ और चीज भी है और असली वह वही हैं। अब अगर इसको आदमी का अस्तित्व मान लिया जाय, तो फिर उसको क्या कहा जाय, जो चौथी किस्म का आदमी है और जिसने यह मान रखा है कि वह न देह है, न मन है, न मस्तक है, न बुद्धि है, वह जीव या आत्मा है।

इन सबसे परे ऐसा भी आदमी मिल सकता है, जिसने अपने को अच्छी तरह पहचान लिया हो और जो अपनी याद हमेशा रखता हो और जो अपने आत्मा के सिवा और कुछ न मानता हो, तब ऐसे आदमी का अस्तित्व क्या होगा ?

अस्तित्व अगर कुछ हो सकता है, तो उस पुरुष का हो सकता है, जिसने जीव के साथ मिलकर दुनिया का झमेला-बखेड़ा या नाटक रच रखा है।

अस्तित्व की यह बात जब धर्म के खयाल में आती है, तो एक नया तमाशा खड़ा हो जाता है और अब आदमी के चार अस्तित्व हो जाते हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। क्षत्रिय कितना ही ज्ञानी क्यों न हो, ब्राह्मण से उसका अस्तित्व अलग ही रहेगा। वैश्य कितना ही बहादुर क्यों न हो, क्षत्रिय के अस्तित्व से अलग ही रहेगा। इसी तरह ब्राह्मण और क्षत्रिय कैसे भी क्यों न हो, वह अपना अस्तित्व लिये हुए अलग ही रहेंगे। यहाँ चारित्र और अस्तित्व

ऐसे मिलते हैं, जहाँ अपने-आप यह कहना पड़ता है कि यह देखने के कुछ और, और अंदर से कुछ और हैं। यानी जिसको ब्राह्मण-अस्तित्व माना जाता है, हो सकता है वह शूद्र-अस्तित्व हो और इसी तरह और अस्तित्व भी। अब यह बात समझ में आ गयी होगी कि जिसे ऋषि ज्ञानी आदमी-अस्तित्व समझे हुए था, हो सकता है कि वह पत्थर-अस्तित्व हो, पेड़-अस्तित्व हो या पशु-अस्तित्व हो। और फिर आदमी के चार अस्तित्व ही कहाँ रह जाते हैं, वह तो अनेक हो जाते हैं। जैसे सच्चा, झूठा, सन्त, महन्त, डाकू, तेली, धोबी, नाई इत्यादि।

श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की एकता

गलत या सही, आदमी यह विश्वास कर बैठा है कि आदमी के अस्तित्व में यानी आदमी के चरित्र में जितनी कमियाँ और जितनी उल्टी बातें होंगी, उतना ही वह आदमी बुद्धिमान् होगा। इसका नतीजा यह हुआ है कि पागल पुजने लगे हैं। वे पुजें, यह बुरी बात नहीं, बुरी बात यह है कि उनके बारे मे यह मान लिया जाता है कि वे अपने को पहचान गये है और पहुँचे हुए सत हैं। लोगों ने यह जानना छोड़ दिया है और न जानने की कोशिश करना चाहते हैं कि श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र यानी मानना, जानना और करना, इनमें कभी दुभाँत नहीं हो सकती। यह बात बन ही नहीं सकती कि एक आदमी स्वार्थी हो, झूठ बोलता हो, बे-भरोसे का हो और बेतुकी बातें करता हो और फिर भी वह एक बड़ा कलाकार हो या विज्ञानी हो या दार्शनिक हो। अगर इस तरह के जोड़ कहीं दिखाई दें, तो यह नहीं मानना चाहिए कि वह वैसे ही है, जैसा आदमी ने समझ रखा है, कहीं-न-कहीं उसमे जरूर भूल मिलेगी।

पुराणों में ऐसी कथाएँ मिल सकती है और खूब मिलती हैं कि एक आदमी चोर-डाकू है, पर किसी साधु के सम्पर्क मे आकर वह आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है और फिर वह एकदम बदल जाता है, यानी डाका-चोरी छोड़ देता है। यह ठीक है और यह बात समझ में आती है, पर यह ठीक नहीं है कि वह चोर-डाकू आत्मज्ञानी भी था और डाका भी डाला करता था और चोरी भी किया करता था।

आजकल जो कथा-कहानियाँ लिखी जाती हैं, उनमें यह दिखाने की कोशिश की जाती है कि एक आदमी ऊँचे दर्जे का दार्शनिक है और दुनियाभर की बुराइयों में फँसा हुआ है। यह विपरीत बातें साथ-साथ नहीं रह सकतीं। एक तपेदिक का बीमार पहलवान नहीं हो सकता और अगर उसकी पहलवानी की चर्चा कहीं सुनने में आये, तो यही समझना चाहिए कि उसने पहलवानी का नाम किसी बच्चे के साथ कुश्ती लडकर कमाया होगा। अगर यह भी मान लिया जाय कि जिस तरह का साहित्य दुनिया में चल पडता है, उसी तरह के आदमी दुनिया में पैदा होने लगते हैं। तब हमें यह कहना पड़ेगा कि ऊँचे दर्जे का दार्शनिक अगर बेईमान भी है और झूठ भी बोलता है, तो वह या तो झूठा दार्शनिक है या बेईमानी करने और झूठ बोलने का काम वह किसी नाटक के मंच पर कर रहा है। अगर कोई यहाँ हँसी-हँसी में यह सवाल खडा कर दे कि दुनिया भी तो एक नाटक का मंच है, तब हम यह कहेंगे कि उसका दार्शनिकपना भी नाटक के मंच की चीज है। आज जो विज्ञान, कला और धर्म ने इस तरह बेतुकी बातें फैला रखी हैं, उसीका यह नतीजा है कि लोग आत्मज्ञान से दूर होते जाते हैं और आत्मज्ञान की तरफ न ध्यान देते हैं और न ध्यान देना चाहते हैं।

यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि चारित्र या अस्तित्व या पुरुषत्व या पर्सनालिटी है क्या चीज और क्यों उसका ज्ञान से गहरा संबंध है और क्यों यह ज्ञान के साथ-साथ ही घटता-बढता है? यह भी समझ लेना चाहिए कि ज्ञान और अस्तित्व दो चीज हैं और दोनों की अलग-अलग रफ्तारी है। फिर भी दोनों समान रूप से ऐसे ही बढ़ते हैं और उसी अनुपात में बढ़ते हैं, जैसे बाँह और टाँगें। जैसे यह बात नहीं मानी जा सकती कि एक आदमी के हाथ छह इंच के थे और टाँगें छत्तीस इंच की, वैसे ही यह नहीं माना जा सकता कि एक आदमी का ज्ञान सच्चा था और चरित्र झूठा। यह दोनों एक-से होने चाहिए।

जिस तरह दुनिया में बौने आदमी पाये जाते हैं, उनकी देह का अनुपात ठीक ठीक नहीं होता, पर वह बहुत कम तादाद में पाये जाते हैं और उनको हर मार्ग में चलने का आदमी नहीं माना जाता और वह बहुत दूर तक उन्नति नहीं कर सकते, वैसे ही दुनिया में कुछ ऐसे आदमी मिल सकते हैं, जिनका ज्ञान चारित्र

से कुछ आगे बढ़ गया हो, पर वह इकतर्फा बढ़वारी बड़े धोखे की चीज है। इससे कुछ फायदा नहीं हो सकता और फिर जहाँ कहीं इस तरह के बेजोड की बात सुनने को मिलती है, वहाँ यही कहा जाता है कि ज्ञान चारित्र से बढ़ा हुआ है। ऐसा शायद ही कभी किसीने सुना हो कि चारित्र ज्ञान से बढ गया हो। चारित्र से हमारा मतलब अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह से है, क्योंकि इसके सिवा किसी और क्रिया को चारित्र नाम नहीं दिया जा सकता। ये पाँच ऐसे हैं, जिनकी कमी-बेशी से समाज-व्यवस्था में भलाई की कमी-बेशी होती है। बुरे चारित्रवाले के सिर अगर ज्ञान की बड़ाई थोपे जाने का रिवाज इसी तरह चलता रहा, तो ज्ञान की कदर उठ जायगी। ज्ञान की तरफ से लोग बेपर्वाह हो जायँगे और अपने जानने और पहचानने की बात वह कभी सोचेंगे ही नहीं, क्योंकि वह अपनी समझ खो बैठे होंगे।

समझ से हमारा क्या मतलब है, इसको भी हम साफ कर देना चाहते हैं।

ज्ञान और समझ

जानना और समझना यानी ज्ञान और समझ बिलकुल दो अलग चीजें हैं। समझ बहुत छोटी चीज हैं। ज्ञान की महानता की कोई हद नहीं। चरित्रहीन ज्ञानी कभी नहीं हो सकता। हाँ, वह विद्या के बल पर समझदार हो सकता है और समझदारी की ऊँची-ऊँची बातें कर सकता है। ऊँची-ऊँची कविता लिख सकता है, ऊँचे-ऊँचे ग्रंथ रच सकता है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह ज्ञानी है।

समझ का बस इतना काम है, वह आदमी को यह बता दे कि उसका ज्ञान से क्या सम्बन्ध है? कपड़े को नापने के कारण गज को कपडे से बड़ा नहीं समझा जा सकता। आँखे किसी चीज को देखने के कारण आँखें बुद्धि से बडी नहीं समझी जा सकतीं। रेडियो का यन्त्र बनानेवाला रेडियो के आविष्कर्ता के मुकाबले में कुछ भी नहीं, इसलिए उसको विज्ञानी न कहकर कारीगर कहा गया है। पर कोई कारीगर अपने-आपको विज्ञानी मान बैठे, तो वह बहुत टोटे में रहेगा और उम्रभर मूरख बना रहेगा। इसी तरह कोई चरित्र-हीन अपनी ग्रंथ रचने की समझदारी को या ऊँची कविता लिखने की समझदारी को ज्ञान नाम

दे बैठे, तो वह अपना बहुत बडा नुकसान कर बैठेगा और आज दुनिया में यही हो रहा है। दुनियादारों ने अपने मतलब के लिए पागलों, झूटों, शराबियों, उचक्कों, ठगों, रिश्वतखोरों, गजेडियों, गन्दे लोगों और नंगों को ज्ञानी समझ-कर ज्ञान को कलंकित कर दिया है। यह सब या इनमें से कोई समझदार हो सकते हैं, ज्ञानी हर्गिज नहीं। समझदारी और चालाकी सगी बहनें हैं। पेट भरने के लिए यह बेहद जरूरी है और इस चालाकी और समझदारी को हासिल करने के लिए ज्ञानियों के पास जाने की जरूरत नहीं, यह तो पशु-पक्षियों में कहीं ज्यादा मिल सकती है।

ज्ञान और भक्ति

स्वामि-भक्ति ज्ञान का विषय नहीं, समझदारी का विषय है। स्वामि-भक्ति सीखने के लिए किसी ज्ञानी के पास जाकर आप टोटे में रहेंगे, उसका पाठ कुत्ता बडा अच्छा दे सकता है। अब भक्ति में आकर कोई कुत्ते को ज्ञानी कह डाले, तो ज्ञान रो देगा।

माँ बच्चे को कैसे अच्छी तरह पाल सकती है, इसका पाठ उसे ज्ञानी से नहीं मिल सकता। यह समझदारी और स्वार्थ की चीज है। इस तरह की समझदारी की गुरानी मुर्गी, बिल्ली, चिडिया और दूसरे जानवर अच्छे साबित हो सकते हैं। इसी तरह और भी समझदारी की चीजें दुनियादारों से, पशु-पक्षियों से सीखी जा सकती हैं, पर ज्ञानियों से नहीं।

छोटी-छोटी गुत्थियाँ सुलझाना, छोटी-छोटी पहेलियाँ बुझाना, छोटी-छोटी दिक्कतें हल करना समझ का काम है, जिसके विषय में यह कहा जा चुका है कि वह मन, मस्तक और बुद्धि की चीज है। यह मन, मस्तक ज्ञान नहीं, ज्ञान के मुनीम या ज्ञान के औजार हैं। परिस्थितियों के साथ रहकर इन्होंने उस जरा-से ज्ञान के बल पर अपना नया ज्ञान खड़ा कर लिया है और उसीको हम समझ नाम से पुकारते हैं।

ज्ञान दुखदायी नहीं होता

विज्ञान की किसी भी शाखा में बडी-से-बडी खोज समझ का विषय है, ज्ञान का विषय नहीं। लेकिन जब कोई खोजी अपनी उस खोज का संबंध आत्मज्ञान

से जोड़ने लगता है, तब वह ज्ञान के क्षेत्र मे आ जाता है और उसी तरफ अगर बढ़ता रहे, तो उसकी खोज उसके लिए और सारे मानव-समाज के लिए सुखदायी हो सकती है। नहीं तो वह इतनी दुखदायी होगी कि उसको खुद खा जायगी। ज्ञान कभी दुखदायी नहीं होता। जब किसीने भी ज्ञान को दुखदायी कहा है, तब उसका मतलब हमेशा समझ से रहा है, न कि ज्ञान से।

'क' और 'ख' नाम के दो आदमी हैं। दोनों दिल्ली मे रहते हैं। दोनों के बेटे बबई में काम करते है। पहली जनवरी को उन दोनो लडकों की बबई मे मौत हो जाती है। दिल्ली में 'क' और 'ख' मौत के वक्त सिनेमा देख रहे हैं। उनके बाद भी दिनभर हँसी-खेल में बिताते हैं, रात को आराम से सोते हैं। दो जनवरी को तार आता है और उनको अपने-अपने बेटे के मरने की खबर मिलती है। 'क' खबर पाकर बुरी तरह रोता है। 'ख' खबर पाकर दो-एक आँसू बहाता है, सतोष कर लेता है और काम मे लग जाता है। अब एक पुरोहितजी आते हैं और 'क' से कहते हैं कि ज्ञान बडा दुखदायी है। देखिये, आपका लड़का कल मरा; पर कल आपको उसकी मौत का ज्ञान न था, आज ज्ञान हुआ और आप दुःखी हैं।

यह पुरोहितजी, जो ज्ञान को दु:ख का कारण बता रहे हैं, वह ज्ञान ज्ञान नहीं है। क्योंकि इस तरह का ज्ञान तो 'ख' को भी हुआ और उसको इतना दुःख नहीं पहुँचा सका, जितना 'क' को। क्योकि 'ख' 'क' के मुकाबले में ज्यादा आत्मज्ञानी था। अब आप हमारी इस कसौटी को लेकर किन्हीं दो आदमियो को पढ लीजिये। ज्यादा रोनेवाला आदमी चारित्र में ज्यादा हीन होगा और कम रोनेवाला चारित्र मे कम हीन। रोने से मतलब हमारा दुःख मानने से, उस नाइन के रोने से नहीं, जो पैसे लेकर रोती है।

आदमी जब भी कोई नया दृश्य देखता है या कोई अनजानी बात उसके सामने आती है, तो वह उसके लिए कोई नाम गढता है या किसी शब्द की रचना करता है और अपने उस नये नाम को किसी जाने हुए खाने मे डाल देता है। मान लीजिये, उसने कोई नया पेड देखा। उसका नाम बुडमुखा रख दिया और

इस धुडमुखा शब्द को पेडों के खाने में डाल दिया। इस शब्द गढने के काम को ज्ञान नाम नहीं दिया जा सकता। नाम रखने के काम को ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह मामूली जानकारी के काम है, विद्वान् के काम है। विद्वान् पढने से ही नहीं होता, तजुर्बे या अनुभव से होता है। अनुभव उम्र पाकर समाज मे मिलने-जुलने से भी हो जाता है। कबीरदास पढ़ना-लिखना नहीं जानते थे, पर विद्वान् थे। नाम गढ़ने में उन्हें कमाल हासिल था। पर नाम गढकर इन्होंने ज्ञान की सेवा नहीं की, शब्दकोश की सेवा की, उसको थोडा और मोटा बना दिया। नामों की वजह से साधारण जनता को ज्ञान पाने मे कुछ अडचनें होती है, नफा नहीं। अगर दुनियाभर की एक बोली होती, तो ज्ञान पाने मे आसानी हुई होती और अगर एक शब्द का एक ही वाक्य होता, तो न जाने दुनिया का कितना भला हुआ होता। अगर किसी तरह से हम दुनिया की आधी बोलियाँ और आधे शब्द कम कर सके और अगर हम अपनी समझ को बढा सके, एक-दूसरे को आसानी से समझ सके और ज्ञान और समझ में अन्तर करना सीख जायँ, तो हमारा कितना भला होगा!

एक आदमी जब यह कहता है कि मैंने आपको समझ लिया, तब इसका मतलब क्या होता है? एक मतलब तो यह हो सकता है कि वह मेरी बोली समझता है यानी वह वही बोली बोलता है, जो मै बोलता हूँ। दूसरी बात यह हो सकती है कि जो मै बोला हूँ, उसका वह भाव अच्छी तरह समझ गया है। इन दोनों बातों से यह नतीजा निकला कि एक-दूसरे को समझने के लिए एक बोली होनी चाहिए या अगर वैसा न हो, तो एक तरह के इशारे होने चाहिए। जिस तरह गूँगा इशारे तैयार कर लेता है और उसके घरवाले उनको समझना सीख लेते है और उससे बात करने के लिए इशारों की नकल करना सीख लेते है। अब रह गयी यह बात कि दो आदमी एक-दूसरे को यो नहीं समझ पा रहे कि एक ही शब्द के मतलब दोनो आदमी अलग-अलग रूप के समझे हुए हैं। अब एक आदमी दूसरे को नहीं समझ सकता।

इससे यह नतीजा निकला कि ज्ञान और समझ दो अलग अलग चीजें है। समझकर भी आदमी आदमी का ज्ञान नहीं कर सकता, यानी पूरी तरह नहीं

समझ सकता। इसका यह भी मतलब हुआ कि जब एक आदमी दूसरे आदमी को समझ लेगा, तो उससे वह असहमत नहीं होगा। पर समझदारी के मैदान में प्रायः यह सुनने को मिलता है कि 'क' 'ख' को समझता तो है, पर उससे असहमत है। बस, हम यहीं समझ और ज्ञान में भेद करते हैं। ज्ञान के रास्ते में असहमति नहीं पायी जाती और जहाँ असहमति है, वहाँ ज्ञान नहीं रह सकता। जब 'क' ने 'ख' को समझ लिया, तब असहमति कैसी? अगर असहमति है यानी उसकी राय उससे नहीं मिलती, तब 'क' ने 'ख' को समझा ही नहीं। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि यह विचार तो बहुत मुश्किल है और स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके जवाब में हम यही कहेंगे कि यह विचार समझने में मुश्किल है, स्वीकार करने में मुश्किल नहीं। किसी विचार से अस्वीकृति इसी बात का सबूत है कि वह बात हमारी समझ में इस तरह नहीं आयी, जिस तरह कहनेवाला समझे हुए है।

अब यह बात साफ हो गयी कि समझ ऐसी चीज है कि जो सबके पास एक-सी नहीं है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि आदमी के दो पहलू हैं—एक ज्ञान और एक चरित्र। चरित्र को हम अस्तित्व भी कहते हैं। हम यह भी मानते हैं कि ज्ञान और चरित्र साथ-साथ बढ़ते हैं। उनमें ऐसी छुटाई-बडाई हो सकती है, जैसे कानी उँगली में और अँगूठीवाली उँगली में। बच्चे की बढ़वारी के साथ जैसे दोनों उँगलियाँ बढ़ती हैं, पर अनुपात वही रहता है। ऐसा कभी नहीं होता कि कानी उँगली इतनी बढ़ जाय कि अँगूठीवाली उँगली उससे छोटी रह जाय। इसी तरह ज्ञान और चरित्र, दोनों साथ-साथ बढ़ते हैं। हाँ, उनमें अनुपात वही बना रहता है और उस अनुपात को हम समझ या बुद्धि नाम से पुकारते हैं।

स्वाध्यायी को यह ध्यान रहे कि ज्ञान और चरित्र कभी स्थिर नहीं रह सकते। वह हर क्षण बढ़ेंगे या घटेंगे। ज्ञान के बढ़ने-घटने की बात हम पहले साफ कर चुके हैं। इसलिए यहाँ इतना ही याद रखना चाहिए कि अगर ज्ञान और चरित्र बढ़ नहीं रहे हैं, तो जरूर घट रहे हैं और इसका बड़ा ध्यान रखना चाहिए।

ज्ञान, चरित्र और समझ का रिश्ता यह समझने में मदद देगा कि किसीको समझना उनसे सहमत होना है। नहीं तो समझने का कोई अर्थ ही नहीं। एक-दूसरे को समझने का अर्थ यही है कि उन दोनों का ज्ञान और चरित्र एक बराबर उन्नत है। और ज्ञान के माने यही है कि आदमी ने अपने-आपको कितना पहचान लिया है और अपने पहचानने पर चरित्र या अस्तित्व उतना बढ़ेगा ही, जितना उस पहचान के लिए जरूरी है। अब असहमति कहाँ रह जाती है?

समझ के बारे में आजकल जो सबसे बड़ा भ्रम फैला हुआ है, वह यही है कि हरएक आदमी को अधिकार है कि वह हर चीज को अपने ढंग से समझे। इस भ्रम को ज्ञान में कोई स्थान नहीं। समझने में भिन्नता नहीं हो सकती। दो और दो को चार के सिवा और क्या समझा जा सकता है? आग को गरम ही समझा जा सकता है। दो और दो को तीन समझना नासमझी है, अधूरी समझ है। इसी तरह जो आग को ठंडा समझता है, वह नासमझी है या अन्यथा समझ है। लेकिन अनुभव यह है और अक्सर यही सुनने को मिलता है कि लोग चीजों को अलग-अलग समझते हैं। तो फिर इस आँख के देखे, कान के सुने को झूठ कैसे मानें?

स्वाध्याय की खूबी

बेशक, इसको झूठ नहीं कहा जा सकता। हम भी तो यही कह रहे हैं कि समझ ज्ञान नहीं है। समझ ज्ञान का बहुत छोटा हिस्सा है और समझ अलग-अलग यों हो जाती है कि हमने अपनी समझ को, जो हमारे ज्ञान का हिस्सा है, ज्ञान के साथ किस सम्बन्ध में बैठा रखा है। मान लीजिये, आपके पास इकन्नी है, मेरे पास दुअन्नी है। आपकी इकन्नी एक रुपये का सोलहवाँ हिस्सा है, मेरी दुअन्नी एक रुपये का आठवाँ हिस्सा है। इसमें कोई झगड़ा नहीं। समझने में असहमति भी नहीं हो सकती। अगर आप अपनी इकन्नी को अठन्नी का आठवाँ हिस्सा कहें, तब भी कोई असहमति नहीं हो सकती। असहमति वहाँ होती है, जहाँ हम उस रिश्ते पर नजर नहीं डालते, जो समझ का ज्ञान के साथ

है। यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए कि सत्य, परमेश्वर, आत्मा या संपूर्ण के संबंध में हर आदमी के विचार एक-से नहीं होते। वह ज्ञान और चरित्र के अनुसार अलग-अलग होते हैं और स्वाध्याय में यही खूबी है कि वह बहुत जल्दी आदमियों को ज्ञान और चरित्र के एक तल पर ला देता है और फिर उनमें नासमझी नहीं होने पाती। सबका ज्ञान हमेशा एक नतीजे पर पहुँचेगा। आत्मा अंकगणित के अंकों की तरह सदा एकरूप है। इसलिए सबका अनुभव एक-सा होगा। इसलिए आत्मज्ञान के विषय में असहमति कैसी? और आत्मज्ञान के साथ-साथ चरित्र में असमता कैसी?

हाँ, स्वाध्याय यानी आत्मज्ञान के बगैर हर आदमी की अपनी समझ अलग रहेगी। क्योंकि उसकी समझ मशीनी समझ है, वह समझ उन संस्कारों, रूढ़ि-रिवाजों और आदतों से बनी हुई है, जिनमें वह पैदा हुए, पर ऐसी समझ तो ज्ञान नाम से नहीं पुकारी जा सकती।

हम ऊपर कह आये हैं कि आदमी कई तरह के होते हैं। एक वह, जो स्वभाव और गति में निवास करते हैं। दूसरे वह, जो भावों में निवास करते हैं। तीसरे वह, जो बुद्धि में निवास करते हैं। इन तीनों को अब आप एक कोटि में ले लीजिये, यानी इन सबको आदमी नहीं, आदमी नामी मशीन समझ लीजिये। यह सब वही हैं, जो नींद-चेतना या जाग-चेतना में रहते हैं। चौथे हमने वह बतलाये थे, जो आत्म-चेतना में रहते हैं। देखने में पहले तीन तरह के आदमियों में और चौथे आत्म-चेतनावाले आदमियों में कोई अन्तर नहीं मिलेगा, पर उनके ज्ञान और चरित्र में बहुत बड़ा अन्तर होगा। पहले तीन किस्म के आदमियों का ज्ञान-चरित्र का पैमाना अगर दस मान लिया जाय, तो आत्म-चेतनावालों का पैमाना कई हजार मानना पड़ेगा। इसलिए हमको इन आदमियों को दो भागों में बाँटना पड़ेगा। नाम कुछ भी रखे जा सकते हैं। सुभीते के लिए उन तीनों को अनात्मज्ञानी नाम दे दीजिये और चौथे को आत्मज्ञानी। बस, यह अनात्मज्ञानी और आत्मज्ञानी उन्नति के क्षेत्र में दो अलग-अलग दायरों में घूमते और रहते हैं। इनमें से एक को आप बाहरी चक्र कह दीजिये और दूसरे को भीतरी चक्र। इस भीतरी चक्र में ही वह सब लोग आ जाते हैं, जिन्होंने

आत्म-चेतना में निरंतर रहने का अभ्यास कर लिया है। जो आत्म-चेतना की झाँकी पा गये हैं और जिन्होंने स्वाध्याय के जरिये अपनी याद रखने का अभ्यास कर लिया है, वे इन दोनों तरह के आदमियों के बीच में निवास करते हैं। आत्म-चेतना की झाँकी पाये हुए अपने से ऊँचे साधकों से बहुत कुछ हासिल कर सकते हैं। पर वह पायी हुई चीजें उनका कुछ भला नहीं कर सकतीं, जब तक कि वह उन बातों को अपने अनुभव में न ले आयें।

बोली और ज्ञान

पहले तीन किस्मों के आदमी बहुत कम एक-दूसरे को समझ सकते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि उन सबकी एक बोली नहीं होती। यहाँ बोली से मतलब वे बोलियाँ नहीं हैं, जो देश में बोली जाती हैं। हमारा मतलब उन बोलियों से है, जिन इशारों के बल पर एक-दूसरे को अपना मतलब समझाते हैं। इन तीनों किस्मों के आदमियों में यह योग्यता नहीं रहती। वह हर बात को अपने-अपने ढंग से अलग-अलग समझते हैं।

मन की बोली एक होती है

बोली के मामले को साफ करने के लिए हम एक उदाहरण देंगे। मान लीजिये, एक बच्चा अपनी माँ का दूध पी रहा है। ऐसे वक्त माँ भावों की दुनिया में होती है। उसका अस्तित्व अलग होता है। इसी अस्तित्व को आप भाव-चरित्र मान लीजिये। बच्चा उस वक्त स्वभाव और गति-संसार में होता है, यानी वह अपनी देह को ही सब कुछ समझता है, जब कि उसकी माँ भाव को ही सब कुछ समझती है। अब बच्चा अपने दाँतों का आनन्द लेने के लिए माँ का स्तन जरा जोर से काट लेता है। स्तन कटते ही माँ एकदम भाव की दुनिया से कूदकर देह की दुनिया में आ जाती है और माँ बेटे का मोह छोड़कर बुरी तरह से अपने बच्चे को पीट देती है। अब जैसे ही बच्चा माँ का स्तन छोड़कर बुरी तरह से चीखने-चिल्लाने लगता है कि माँ तुरंत भाव की दुनिया में आ जाती है और इस वक्त माँ-बेटे, दोनों एक तल पर होते हैं। माँ बेटे की बोली समझती है, बेटा माँ की बोली समझता है। बेटा माँ के गले लग जाता है और

माँ बेटे को गले लगाकर पुचकारती है और फिर दूध पिलाने लगती है और थोड़ी देर में बुद्धि की दुनिया में आ जाती है और न बोलनेवाले बच्चे पर हाथ फेर-फेरकर अपनी गलती की माफी माँगती है। वह बच्चे से ऐसी ही बातें करती है, मानो वह खूब समझता हो और बच्चा भी माँ के हाथ के उसके बदन पर फिरने से ऐसा मालूम होता है, मानो वह माँ की बोली समझ रहा हो और वह भी अपनी माँ की तरह बुद्धि-तल पर हो। जब भी आदमी देह-तल से भाव-तल में आता है, तब आत्म-झाँकी जरूर होती है और जब भाव-तल से बुद्धि-तल मे आता है, तब भी झाँकी होती है और ऐसे अवसरों पर ज्ञान की बढ़वारी होती है और साथ-साथ चरित्र बढ़ता है।

इसी सिलसिले में यह भी समझ लेना चाहिए कि जब-जब आदमी बुद्धि-तल से भाव-तल में आता है या भाव-तल से देह-तल मे आता है, तब-तब वह अपनी याद भूल जाता है। इस वजह से उसका ज्ञान कम हो जाता है और उसी हिसाब से चरित्र में कमजोरी आ जाती है। अब आदमी का एक अस्तित्व कहाँ रह गया और एक बोली कहाँ रह गयी? अब यह साफ हो गया कि ज्ञान और चरित्र के एक तल पर रहनेवाले एक-दूसरे को खूब समझ लेते हैं, ठीक समझ लेते हैं, असहमत नहीं होते। फिर चाहे वह एक-दूसरे की बोली समझते हों या न समझते हों। मन की बोली सबकी एक होती है और सब खूब समझते हैं। बच्चा कोई बोली नहीं जानता था, पर जब माँ-बेटे एक तल पर आये, तो दोनों एक-दूसरे को समझ गये।

'सौ सयाने एक मत' की कहावत किसने नहीं सुनी। इसके माने यही है कि सयाने आमतौर से एक तल पर रहते हैं। इसलिए उनमें असहमति का सवाल खड़ा नहीं होता। इसी तरह 'जितनी खोपड़ी उतने मत' की कहावत का भी सबको ज्ञान है। इसका मतलब यही है कि ऊपर बताये हुए तीन तरह के आदमी कभी एक तल पर नहीं रहते, इसलिए एक-दूसरे की बोली नहीं समझ सकते और ऐसे ही आदमियों मे यह कहावत भी जागी है कि 'हम आपको समझ तो गये, पर आपसे हमारा मेल नहीं खाता।' वे यह समझ ही नहीं पाते कि वह समझना क्या समझना है। जब जिसे वह समझे हैं, उससे मेल ही नहीं खाते।

एक चीनी लड़की का किसी हिन्दुस्तानी लड़के से चार आँखें होने पर अचानक प्रेम हो सकता है, दोनों एक-दूसरे की बोली नहीं समझते। पर दोनों आँख लड़ने पर भाव की दुनिया में आ जाते हैं और उनके ज्ञान और चरित्र का एक तल हो जाता है, इसलिए दोनों के मन एक हो जाते हैं और यह हम पहले बता चुके हैं कि मन की बोली एक होती है। इसलिए दोनों एक दूसरे को समझ लेते हैं। समझ ही नहीं लेते, एक-दूसरे का मन ऐसे पढ़ने लगते हैं, मानो उन्होंने अपने मन बदल लिये।

डाकू जब डाका डालने निकलता है, तब देह की दुनिया मे रहता है, इसलिए वह उस बच्चे औरत को भी लूट लेता है, जिसके ऊपर वह अपनी जान देने को तैयार हो जाता है, अगर वह भाव की दुनिया में होता या भाव की दुनिया मे लाया जा सकता। और कभी-कभी जब औरत और बच्चे लुटने से बच जाते हैं, तब यही होता है कि लूटनेवाले और लुटनेवाले, दोनों भाव-दुनिया में आ जाते हैं, दोनों के ज्ञान-चरित्र का तल एक हो जाता है और दोनों एक-दूसरे को खूब समझ लेते है।

मन की बोली समझने की बात आदमियों में ही नहीं, पशुओं में भी पायी जाती है। कमजोर कुत्ता पूँछ दबाकर जैसे ही भाव की दुनिया में आता है कि उस पर दौड़नेवाला कुत्ता भी भाव-दुनिया में आ जाता है और दोनों एक दूसरे को समझकर अपनी-अपनी राह चल देते हैं। इसलिए एक-दूसरे को समझना और फिर भी असहमत रहना किसी तरह नहीं जमता।

आत्म-चेतना के तल की एकता

अब यह बात साफ हो गयी कि ज्ञान उसे कहते हैं, जिसका सम्बन्ध आत्म-चेतना से है और जो कोई किसीको ठीक-ठीक समझना चाहे, तो उसे यह कला आत्म-चेतनावालों से ही सीखनी चाहिए। आत्म-चेतना में निवास करनेवाले आदमी सब एक-दूसरे को समझते हैं, क्योंकि वह ज्ञान और चरित्र के एक तल पर होते हैं।

जिनको आत्म-झाँकियाँ होती रहती है, वह भी अक्सर एक तल पर आ जाते हैं। अगर ऐसा न होता, तो यह दुनिया किसी तरह रहने योग्य न रह जाती। जब बडी-बडी लडाइयाँ छिड़ी होती है, तब क्या सुलह के पैगाम नहीं चल रहे होते और यह पैगाम सिपाहियों मे नहीं चलते, सिपाही तो देह की दुनिया में रहकर मशीन बने हुए एक-दूसरे के सिर काट रहे होते हैं और दोनों फौजों के एक तल पर रहनेवाले बुद्धि की दुनिया में बसनेवाले एक मेज पर बैठे सुलह की चर्चा कर रहे होते है। अगर कहीं यह रिवाज होता कि सुलह के मामले मे सिर्फ दो आदमी हुआ करते, तो हमे उम्मीद है कि सुलह बडी जल्दी हो जाया करती। हिन्दुस्तान इस बात को अपनी आँख से देख चुका है। गाधी-इरविन पैक्ट और अफ्रीका का गाधी-स्पिट पैक्ट मशहूर हैं, क्योंकि ये पैक्ट दो आदमियों के बीच हुए थे और पाँच-दस व्यक्तियों की अपेक्षा दो बुद्धिमान् आदमी कुछ देर तक जरूर एक तल पर रह सकते हैं, एक-दूसरे को समझ सकते हैं और फिर सहमत तो होंगे ही।

हम और उदाहरणों के लिए स्वाध्यायी को आजाद छोड़ेंगे। वह ऐसे उदाहरण खुद ढूँढ सकता है। हमें तो यहाँ इतना ही कहना है कि देह के तल पर एक होना सबसे कम दर्जे की चीज है, उससे अच्छा भाव के तल पर एक होना, उससे अच्छा बुद्धि के तल पर एक होना और सबसे अच्छा ज्ञान के तल पर यानी आत्म-चेतना के तल पर एक होना है।

यह हम पहले कह चुके है कि तीन तरह के आदमी अगर एक-दूसरे को समझना चाहें, तो नहीं समझ सकते। उन्हें एक-दूसरे को समझने के लिए आत्म-चेतनावालों से ज्ञान का पाठ लेकर आत्म-चेतना का अनुभव करना ही पड़ेगा, क्योंकि एक-दूसरे को समझने की बात वहीं सम्भव है, इस तल पर नहीं।

ज्ञान की बोली

मन की बोली को दो आदमी समझ सकते है, पर ज्ञान की बोली को सब समझ सकते हैं। आत्म-चेतना में रहनेवाले सब-के-सब एक-दूसरे को समझते है और एक-दूसरे से सहमत होते हैं।

स्वाध्यायी को चाहिए कि वह इन बातों को समझकर अपने उन केन्द्रों और चक्रों की जाँच करे, जिसका जिक्र हम ऊपर कर आये हैं। उसको हमारी यह बात सच्ची मिलेगी कि उन केन्द्रों में इसी तरह के काम होते हैं। हो सकता है, उसे अपनी जाँच पर और भी तरह-तरह के भेद खुलें, पर उन भेदों को पाकर भी वह इसी नतीजे पर पहुँचेगा कि एक-दूसरे को समझने के बाद असहमति का प्रश्न नहीं रह जाता।

स्वाध्यायी के लिए ग्राह्य

स्वाध्यायी को यह तो याद ही रखना चाहिए कि चेतना की तरह समझदारी या बुद्धि हमेशा एक तल पर नहीं रहती, उसमें लहरें उठती रहती हैं, ऊपर-नीचे होती रहती है। हम कभी ज्यादा समझते हैं और कभी कम। जब स्वाध्यायी स्वाध्याय करते समय इस बात को अपनी आँखों देख लेगा कि बहुत जल्दी यह ताकत हासिल कर लेगा कि वह कुछ देर के लिए अपनी समझदारी के तल को एक जगह रोक रखे और किसी तरह उसे नीचे न जाने दे और इस अभ्यास के बाद यह भी सम्भव है कि वह बुद्धि के तल से जरा ऊँचा उठना सीख ले और फिर यह भी सम्भव है कि वह ज्ञान के तल को छू ले। बस, इसीका नाम आत्म-चेतना है। यह याद रहे कि किताब पढ़ने से कुछ हाथ नहीं आता, सिद्धान्त को ज्यादा-से-ज्यादा समझने से भी कुछ हाथ नहीं आता। अगर कुछ हाथ आयेगा, तो अभ्यास करने, काम करने और चरित्र को बदलने से—यानी एकदम एक अस्तित्व में से दूसरे अस्तित्व में आ जाने से।

दूसरों को समझने के लिए अपने को समझो

अगर सचमुच दूसरे लोगों को समझना है, तो तुम उनके समझने के चक्कर में न पड़ो, उनको कभी नहीं समझ सकोगे। उनको समझने की जितनी कोशिश करोगे, उतने ही उनसे दूर होते जाओगे। क्या अभी तुमने यह नहीं सुना कि ज्ञान और चरित्र के एक तल पर रहनेवाले ही एक दूसरे को कुछ-कुछ समझ सकते हैं। भाव-तल पर रहनेवाला देह-तलवाले को कुछ-कुछ समझ सकता है, ज्ञान-तलवाला भाव और देह-तलवाले को समझ सकता है। अगर

दुनिया मे ऐसा न होता, तो दस सिपाहियो को एक जमादार और कई जमादारों को एक लेफ्टेंट और सारो सेना और लेफ्टेंटो को एक सेनापति न समझ सकता। पर यह भी ठीक-ठीक समझते कहाँ हैं, कामभर के लिए समझते है। दूसरे को समझने के लिए तो एक ही तरकीब है और वह है, अपने को अच्छी तरह समझना। तुम अपने को अच्छी तरह तभी समझ सकते हो, जब तुम अपने अस्तित्व को यानी अपने चरित्र को अपने ज्ञान के तल पर ले आओ।

स्वाध्याय सर्वशक्तिप्रदाता

अब यह बात समझ में आ गयी होगी कि हम दूसरों के बारे में हमेशा इतना समझते है कि वह क्या-क्या समझते हैं, यह नहीं समझते कि वह क्या हैं। हम किसीके अन्दर ज्यादा-से-ज्यादा इतना देख सकते हैं, जितने हम खुद हैं। इससे आगे न देखने की वजह से हम हमेशा यह भूल कर जाते हैं और हम यह कह बैठते हैं कि हमने उसको पूरा और ठीक-ठीक समझ लिया। इसका नतीजा असहमति न होगा, तो और क्या होगा? अगर हम पूरा-पूरा समझ लेते, तो उसके चरित्र और अस्तित्व को भी समझ गये होते और फिर हम उससे सहमत हो गये होते। पर यह तो उसी वक्त हो सकता है कि हम भी उतने ही समझदार हों, जितना वह है, जिसे हम समझना चाहते हैं या उससे ज्यादा समझदार हों या हम अपना ज्ञान रखते हों और आत्म-चेतना में हों। अपने से ज्यादा समझदारों को समझने के लिए हमे अपना चरित्र और अपना अस्तित्व बदलना ही होगा। यह काम स्वाध्याय के बगैर नहीं हो सकता।

अब हम फिर आत्मपठन की तरफ घूमते हैं। अपनी याद और अपने में रहना और केन्द्रों को समझना हमारा पहला काम है, क्योंकि आत्मज्ञान के यही साधन हैं। यह जान लेने में हानि नही कि अपनी याद को योग-शास्त्र में धारणा नाम दिया है। अपने में रहने को ध्यान नाम दिया है और इसी तरह आगे की अवस्था को समाधि माना है। पर उसकी बात तो हम यहाँ नही कह रहे, इसलिए उसे छोड़ते हैं।

स्वाध्यायी को स्मृति-पुंज होना चाहिए

स्वाध्यायी को अपनी याद करने के पीछे पड जाना चाहिए। यह या अपने-आप वह दरवाजा खोलकर रहेगी, जहाँ हमारा आपा मौजूद है या जा हमारा गम सोया हुआ है। और हो सकता है कि एक बार उस कोटी में पाँव रखते ही डर लगे, पर हम कह देते हैं कि जहाँ अपनी याद ने आपको एक बार धक्का देकर एक कदम आपको कोठरी के अन्दर डाला और निकाला कि आपको डालने और निकालने की लत पड़ी और फिर आगे का काम आपे आप आसान हो जायगा।

द्वन्द्व को समझ लेना चाहिए

इस विषय में और ज्यादा न कहा जा सकता है, न कहना चाहिए ज्यादा जोर तो इस बात पर देना चाहिए कि हम अपने चारों केंद्रों की नरमी गरमी को यानी द्वन्द्व को जरा विस्तार के साथ समझ लें। स्वाध्यायी को जरा आगे बढने पर बिल्कुल ऐसा मालूम होगा कि उसका हरएक केन्द्र फिर तीन-तीन हिस्सों में बँट गया है यानी हर केन्द्र अपना वही रूप लिये हुए है, जो हमने केन्द्रों के रूप बताये थे। कुछ दूर चलकर ऐसा मालूम होगा, मानो हमारा गति का केन्द्र यानी हमारी हलन-चलन क्रिया अपने-आप भी अपनी एक बुद्धि रखती है, अपने भाव रखती हैं और अपना स्वभाव लिये हुए है। यही बात स्वभाव-केन्द्र में मिलेगी और यही भाव और बुद्धि-केन्द्र में। पर इन सबमें न घबराने की जरूरत है, न चकराने की। बात असल में यह है कि हमारे जीव ने हमारे पुरुष को कुछ शक्ति देकर स्वाधीन छोड दिया है और हमारे पुरुष ने हमारी इच्छा-शक्ति को कुछ देकर स्वाधीन छोड़ दिया है और पुरुष ने यही काम मस्तक के साथ भी किया है और भाव, स्वभाव और गति के साथ भी।